विज्ञान

इस अंक के आकर्षण

भारत के बायोस्फीयर रिजर्व
कहानी कुनैन की
पहाड़, गाँव और भगीरथ (कविता)
उड़ने वाले स्तनधारी
मिलावट से सावधान

अगस्त 1991 अंक

ार्षिक मूल्य : 25 रुपये   प्रति अंक : 2 50 पैसे

विज्ञान परिषद, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
अगस्त 1991; वर्ष 77 अंक 5

मूल्य
आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7ए, बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

भारत के बायोस्फीयर रिजर्व

○सतीश कुमार शर्मा○

मनुष्य तथा बायोस्फीयर कार्यक्रम (Man and Biosphere Progra mme-MAB) का श्रीगणेश सन् 1971 में हुआ। यह एक विश्वव्यापी कार्यक्रम है, जिसमें वैज्ञानिक तरीके से मनुष्य तथा पर्यावरण के आपसी सम्बन्धों का जैवपारिस्थितिकीय एवं भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में समस्त मानवता के हितार्थ विभिन्न विश्व स्तरीय महत्व के क्षेत्रों का संरक्षण निहित है। इन विशिष्ट संरक्षित क्षेत्रों में, आने वाली पीढ़ियों के लिए, प्राकृतिक विविधताओं से भरपूर आनुवंशकीय द्रव्य पुंजों का संरक्षण सुनिश्चित किया जाता है। ये संरक्षित सम्पदायें किसी खास देश की थोड़ी सी जनसंख्या के लिए नहीं अपितु समस्त मानवता के लिए सुरक्षित रखी जा रही हैं।

विश्व का पहला बायोस्फीयर रिजर्व 1976 में बना। इसके बाद से निरन्तर ऐसे रिजर्व बनते आ रहे हैं। अब तक 74 देशों में 269 बायोस्फीयर रिजर्व बन चुके हैं। भारत में विभिन्न प्रारूपिक आवासों में 13 बायोस्फीयर रिजर्व बनाये जाने प्रस्तावित हैं, जिनमें अभी तक 6 स्थापित हो चुके हैं तथा 7 अभी स्थापित किये जाने शेष हैं। (सारिणी—1)

सारणी-1

भारत के बायोस्फीयर रिजर्व

क्षेत्र	बायोस्फीयर रिजर्व	
	स्थापित होने शेष	स्थापित हो चुके
1. उत्तरी क्षेत्र	(I) उत्तराखण्ड बायोस्फीयर रिजर्व	(I) नन्दादेवी बायोस्फीयर रिजर्व
2. पश्चिमी भारत	(I) थार मरु बायोस्फीयर रिजर्व	—
3. दक्षिणी भारत	(I) मन्नार खाड़ी बायोस्फीयर रिजर्व (II) उत्तरी अण्डमान बायोस्फीयर रिजर्व	(I) ग्रेट निकोबार बायोस्फीयर रिजर्व (II) नीलगिरि बायोस्फीयर रिजर्व
4. पूर्वी भारत	(I) मनास बायोस्फीयर रिजर्व (II) काजीरंगा बायोस्फीयर रिजर्व	(I) सुन्दरवन बायोस्फीयर रिजर्व (II) नोकरीक बायोस्फीयर रिजर्व (III) नामदापा बायोस्फीयर रिजर्व
5. मध्य भारत	(I) कान्हा बायोस्फीयर रिजर्व	—
योग	7	6

आरबोरीकल्चरिस्ट, विश्व वानिकी वृक्ष उद्यान, झालाना डूंगरी, जयपुर-302004 (राजस्थान)

भारत का पूर्वी भाग जैविक दृष्टि से अत्यन्त विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण है। विभिन्न तरह की एन्डेमिक वन्य प्राणी तथा वनस्पति प्रजातियों का यहाँ उपस्थित होना इस क्षेत्र की विशिष्टताओं का संरक्षण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बहुत जरूरी समझा गया। यही कारण है कि इस क्षेत्र में सर्वाधिक पाँच बायोस्फीयर रिजर्व बनाये जाने प्रस्तावित हैं, जिनमें अभी तक तीन स्थापित हो चुके हैं।

बायोस्फीयर रिजर्वों की प्रमुख विशेषतायें

बायोस्फीयर रिजर्वों की कुछ प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं:

(i) ये वैज्ञानिक अध्ययन, मानव कल्याण तथा विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं।

(ii) इनसे प्राप्त जानकारी व आँकड़ों का संरक्षण कार्यक्रमों में उपयोग किया जाता है।

(iii) बायोस्फीयर क्षेत्र में विभिन्न गतिविधियों के लिए अलग-अलग क्षेत्र निर्धारित होते हैं।

(iv) प्रत्येक बायोस्फीयर रिजर्व पर्याप्त बड़े क्षेत्र में स्थापित किया जाता है तथा रिजर्व की सुरक्षा पर कानूनी तौर पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है।

(v) बायोस्फीयर रिजर्व में पारिस्थितिकी, शैक्षिक तथा प्रशिक्षण सम्बन्धी अध्ययन व गतिविधियाँ सम्पादित की जाती हैं।

(vi) मनुष्य को बायोस्फीयर रिजर्व का एक घटक माना जाता है तथा इनके संरक्षण एवं प्रबन्ध में लोगों का सहयोग लिया जाता है।

(vii) बायोस्फीयर रिजर्व में जो जहाँ है, जैसी स्थिति में हैं का उसी मूल रूप में संरक्षण किया जाता है तथा मूल पारिस्थितिकी तन्त्र में मानव जनित हस्तक्षेपों को निषिद्ध किया जाता है।

बायोस्फीयर रिजर्व में भिन्न-भिन्न कार्यों हेतु कुछ क्षेत्रों का निर्धारण किया जाता है, जो निम्न हैं :

1. कोर क्षेत्र (Core Zone)
2. वन मैनीपुलेशन क्षेत्र (Forestry Manipulation Zone)
3. गैर वन मैनीपुलेशन क्षेत्र (Non-forestry Manipulation Zone or Agricultural Manipulation Zone)
4. रेस्टोरेशन क्षेत्र (Restoration Zone)

कोर क्षेत्र :

इस क्षेत्र में मानवीय हस्तक्षेप न्यूनतम होते हैं तथा इस क्षेत्र में विशिष्ट एन्डेमिक प्रजातियों एवं विशिष्ट आनुवंशिक द्रव्य पुंज को बचाने के लिए मूल आवास में किसी भी छेड़-छाड़ की स्वीकृति नहीं दी जाती है।

वन मैनीपुलेशन क्षेत्र :

इस क्षेत्र में वानिकी सम्बन्धी विभिन्न विधाओं तथा प्रायोगिकरण, मूल्यांकन, प्रदर्शन आदि का सम्पादन किया जाता है।

गैरवन मैनीपुलेशन क्षेत्र :

इस क्षेत्र में परम्परागत ढँग से चले आ रहे भूमि सम्बन्धी क्रिया-कलापों का संचालन किया जाता है। इस क्षेत्र में लैण्डस्केपिंग भी की जाती है।

रेस्टोरेशन क्षेत्र :

इस क्षेत्र में परिवर्तित या अपभाषित पारिस्थितिकी तन्त्र में सुधार कर क्षेत्र को मूल अवस्था में लौटाने का कार्य किया जाता है।

भारत में बायोस्फीयर रिजर्वों की आवश्यकता

भारत में वन तथा अन्य प्राणी सम्पदा में विविधताओं की कोई कमी नहीं है। एन्डेमिक प्रजातियों का बाहुल्य हमारी वन सम्पदा को बहुत ही विशिष्टता प्रदान करता है। कदाचित यही हमारे वनों की विशेषता भी है। न्यूनतम स्थान में, विपुलतम् विविधताओं को भविष्य के लिए कौन संरक्षित व संचित नहीं करना चाहेगा ? यही अकेला तथ्य अपने आप में इतना महत्वपूर्ण है जिससे बरबस ही प्रकृतिविद् भारत में विभिन्न प्राकृतिक आवासों में बायोस्फीयर रिजर्व बनाने में जुटे हुए हैं।

भारत में छ: बायोस्फीयर रिजर्वों की अधिकारिक घोषणा हो चुकी है। आशा की जानी चाहिए कि शीघ्र ही शेष रिजर्व भी विधिवत घोषित कर दिये जायेंगे। इन रिजर्वों में तथा इनके आस-पास रहने वाले मनुष्य समुदाय का ही नहीं, बल्कि दूर दराज के निवासियों का भी यह कर्तव्य है कि मानव जाति की इन अनुपम धरोहरों के संरक्षण में अपना ठोस योगदान प्रदान करें ताकि अमूल्य आनुवंशिक द्रव्य पुंज चिरकाल तक आने वाली पीढ़ियों के उपयोग हेतु संरक्षित रह सकें।

● ●

गृहणियों के लिए

मिलावट से सावधान

○ श्रीमती शुभा पाण्डेय ○

चाहे दूध हो, चाय की पत्ती हो, मसाले हों, या तेल—यहाँ तक कि अन्नों में भी मिलावट की जाती रही है। कृत्रिम रंगों, स्वादों तथा अन्य संश्लिष्ट वस्तुओं के उपलब्ध होने से दूकानदार या विक्रेता मूल पदार्थों में इन्हें मिलाकर अपना उल्लू सीधा करता है। ग्राहक या उपभोक्ता असलियत से अवगत न होने से स्वाद-गंध पर विशेष ध्यान देने के कारण मिलावट युक्त पदार्थों का अधिकाधिक सेवन करने लगा है। परिणाम भयावह है—नाना प्रकार के रोग एवं विषाक्तता के अतिरिक्त धन का अपव्यय या क्षति। यदि आप नहीं जानतीं कि मिलावट किन-किन रूपों में

द्वारा डॉ० विजय हिन्द पाण्डेय, डाक-तार अस्पताल, लखनऊ-1

हो सकती है—या इस मिलावट को कैसे परखा जाय तो नुकसान आपका ही है—जेब से अधिक रुपये जावेंगे—स्वास्थ्य खराब होगा और आप संकट में पड़ जावेंगी।

भोज्य पदार्थ	मिलावट	पहचान/परीक्षण
1. बाजरा	आर्गट (फफूंद लगा)	काले-काले दानों की उपस्थिति। कांच की गिलास में पानी लें। कुछ दानें पानी में डालें। अर्गट से दूषित बीज पानी के ऊपर तैरने लगेंगे जबकि सही दानें नीचे बैठ जावेंगे।
2. दूध	1. पानी	लैक्टोमीटर से घनत्व नापें। असली दूध से कम घनत्व मिलेगा।
	2. स्टार्च (गाढ़ा बनाने के लिए)	दूध में 4-5 बूंद टिंचर-आयोडीन की डालें। नीला-बैंगनी रंग सूचक है स्टार्च की उपस्थिति का।
3. सुपाड़ी	बुरादा तथा कृत्रिम रंग	पानी छिड़कें। बुरादा के छीलन तैरेंगें और मिलाये गये रंग से पानी रंगीन हो जावेगा।
4. रावा (सेमोलिना)	लोहे का रेतन	ऊपर से चुम्बक घुमावें। लोहे का रेतन चुम्बक से आकर लिपट जावेगा।
5. नारियल का तेल	खनिज तेल (मिट्टी का)	फ्रीज में जमने के लिए रख दें। असली नारियल का तेल जम जावेगा। खनिज तेल बचा रहेगा।
6. चाय की पत्ती	इस्तेमाल की गई चाय की पत्ती या चने की दाल की कराई तथा रंग	(1) गीले फिल्टर पेपर पर पत्तियाँ डालें। मिलाया गया रंग फिल्टर पेपर में आ जावेगा।
		(2) एक कांच की पट्टी पर खाने वाले चूने की पतली परत पोत दें। अब छोटी पत्तियाँ बिखेरें। चूने पर लाल, बैंगनी आदि रंग निखरने से मिलाये गये रंग की सूचना मिलती है। असली पत्ती से रंग हरा-पीला (क्लोरोफिल का) होगा।
7. केसर	मकई के भुट्टे के शूकों को रंगकर	असली केसर के रेशे तोड़ने पर टूटते नहीं खिंचते हैं। नकली केसर में पानी डालने पर रंग छूटेगा और रेशे टूटेंगें।
8. काफी	इमली के बीजों का चूरा	एक गिलास में पानी लेकर डालें। शुद्ध काफी तैरेगी और इमली के बीज का चूरा नीचे बैठ जावेगा।

9.	काली मिर्च	पपीते के बीज	रंग से पहचान-काली मिर्च के बीज हरे-भूरे रंग के। पानी में डालने पर पपीते के बीज तैरेगें किन्तु काली मिर्च नीचे बैठ जावेगी।
10.	मिर्च (लाल)	रंगीन बुरादा, ईंट का चूरा, खड़िया मिट्टी	थोड़ी सी मिर्च चम्मच में लेकर जलाने पर नाममात्र को राख बचे तो असली मिर्च। ज्यादा राख मिलावट की सूचक है।
11.	जीरा	घासों के बीज रंगकर	हथेली में बीज लेकर रगड़ने पर अँगुलियों में काला रंग आ जाय तो मिलावट।
12.	हींग	गोंद	1. शुद्ध हींग जल में घोलने पर सफेद रंग प्रदान करती है। 2. जलने पर पीली चटकीली लपट।
13.	लौंग	तेल निकाली लौंग	आकार छोटा, सिकुड़ा।
14.	इलायची	तेल निकालकर ऊपर से खड़िया मिट्टी का लेप	रगड़ने पर खड़िया मिट्टी हथेली में लग जावेगा। चखने पर स्वादरहित, सुगंधरहित।

मिलावट से बचने का उपाय है कि आई एस आई (ISI) आगमार्का उत्पाद खरीदें। शिकायत होने पर निम्न पते पर लिखें:

(1) डाइरेक्टर, जनरल इण्डियन स्टैंडर्ड एंस्टीट्यूशन,
मानक भवन, दिल्ली-2

अथवा

(2) एग्रीकल्चर मार्केटिंग एडवाइजर, भारत सरकार
सी जी ओ बिल्डिंग, एम एच 4, फरीदाबाद-1
हरियाणा

●●

(पृष्ठ 7 का शेष)

लगा कि मलेरिया उत्पन्न करने वाले मच्छरों में प्रतिस्थायी यौगिकों के विरुद्ध प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो गयी जिसके कारण मलेरिया रोग का उपचार कठिन हो गया। किन्तु कुनैन अभी भी मलेरिया के मच्छरों को नष्ट करने में सक्षम है। इस समय समस्या यह है कि विश्व में उपलब्ध कुनैन की मात्रा मलेरिया पर काबू पाने के लिये अपर्याप्त है। यह समय की पुकार है कि उच्च कोटि के **सिनकोना** के वृक्षों की संख्या वैज्ञानिक विधि द्वारा बढ़ाई जाये, ताकि मलेरिया का समूल नाश किया जा सके। प्रसन्नता की बात है कि भारत में इन वृक्षों को सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। हमें निश्चय ही इस दिशा में विचार करना होगा।

●●

कहानी कुनैन की

○प्रो० रमेश चन्द्र कपूर○

मलेरिया आज भी एक विश्वव्यापी रोग है, जिसका प्रकोप पृथ्वी पर रहने वाली आधी से अधिक आबादी के क्षेत्र पर विद्यमान है। एक अनुमान के अनुसार प्रति वर्ष लगभग 30 लाख मनुष्य इसी बीमारी के कारण मरते रहते हैं। 'मलेरिया' इतालवी भाषा के दो शब्दों के संगम से बना है, जिसका अर्थ विदूषित वायु है यद्यपि मलेरिया के उद्गम और फैलने में वायु का कोई हाथ नहीं होता। इस बीमारी का फैलाव ऐनोफेलीज मच्छरों द्वारा होता है। यह मच्छर मलेरिया के रोगी के शरीर का रक्त पीने के लिये रोगी के शरीर में जब शुण्डिका चुभोता है तब मलेरिया के परजीवी मच्छर के शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं। जब यही मच्छर किसी स्वस्थ मनुष्य को काटता है तब परजीवी मनुष्य के रक्त में प्रवेश कर जाते हैं।

कई सौ वर्षों से कुनैन ही मलेरिया की रामबाण औषधि के रूप में प्रयुक्त होती रही है। वास्तव में कुनैन की खोज किसने की, यह अभी भी निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता है। एक प्रचलित किंवदन्ति के अनुसार दक्षिण अमेरिका के पेरू प्रदेश में वहाँ का एक मूल निवासी मलेरिया ज्वर से बुरी तरह पीड़ित अवस्था में पागल की भाँति जंगल में घूम रहा था। वह एक तालाब के पास पहुँचा। तालाब में क्विना क्विना का एक वृक्ष उखड़ा पड़ा था। इस वृक्ष को वहाँ के निवासी विषैला मानते थे। रोगी का हाल प्यास से बेहाल था। पानी देखते ही उसके चेहरे पर मुस्कान खिल गई। बिना कुछ सोचे समझे वह तालाब के अन्दर घुसा और तालाब के जल से अपनी प्यास बुझायी। उसे विश्वास था कि विषैला जल पीने से उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो जायेगी, मलेरिया की यातना से उसे छुटकारा मिल जायेगा।

परन्तु ऐसा हुआ नहीं। उसे प्रतीक्षा तो मृत्यु की थी परन्तु उसे ऐसा अनुभव होने लगा जैसे वह स्वस्थ हो रहा हो। उसने मौत चाही पर उसे तो नई जिन्दगी मिल गई। चमत्कार हो गया। शीघ्र ही वह भला चंगा हो गया। जब अपने स्वस्थ होने की कथा उसने अपने साथियों को सुनाई तो सब आश्चर्यचकित रह गये। फिर क्या, इस आश्चर्यजनक कथा से प्रभावित होकर पेरू के निवासी क्विना क्विना के वृक्ष की छाल से मलेरिया ज्वर की औषधि तैयार करने लगे। इस वृक्ष को आजकल सिनकोना कहते हैं। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक मलेरिला ज्वर के उपचार का वही एकमात्र स्रोत रहा था। दक्षिणी अमेरिका एंदेज पर्वतीय क्षेत्र में अमेजन नदी के ढालों पर सिनकोना की अड़तीस जातियाँ पायी जाती हैं। यह क्षेत्र समुद्र की सतह से 5000-8000 फीट की ऊँचाई पर स्थित है। इनके सुगन्धित फूलों के गुच्छे सफेद से गुलाबी रंग के होते हैं और पत्तियाँ तने पर एक दूसरे के बिपरीत लगी रहती हैं। इसकी कुछ जातियों की छाल से 'कुनैन' निकाली जाती है।

प्लाट ए4, 8 रेजिडेन्सी रोड, जोधपुर-342001 (राजस्थान)

एक कथा के अनुसार 1638 में पेरू के वाइसराय की **पत्नी काउन्टेस चिचों** द्वारा यूरोप में सर्वप्रथम **सिनकोना** की छाल लाई गई। यह कहानी मिथ्या थी क्योंकि काउंटेस का निधन दक्षिणी अमेरिका में हो गया था और उनकी तथाकथित यात्रा फलीभूत ही नहीं हुई थी। यूरोप में इसका प्रथम उल्लेख 1643 में **हरमन फॉन देर हेंडन** द्वारा लिखित आयुर्विज्ञान के लेखों में मिलता है। यह स्वाभाविक था कि पेरू में कार्यरत **जेसुइट पादरियों** को इस वृक्ष की छाल की उपयोगिता का सर्वप्रथम ज्ञान हुआ था। इसी कारण वृक्ष की छाल को बहुत काल तक 'जेसुइट बार्क' अथवा 'पेरू बार्क' कहा जाता रहा। कहते हैं कि स्पेन में चेसुइट पादरी मलेरिया से पीड़ित धनवान रोगियों से **सिनकोना** की छाल की कीमत स्वर्ण के भाव वसूलते थे और दरिद्रों का निःशुल्क इलाज करते थे।

1655 में **सिनकोना** की छाल पहली बार इंगलैंड में लायी गयी और **राबर्ट टल्वर** नामक व्यक्ति इसे लुके-छिपे बेच कर मालामाल हो गया था। 200 वर्षों तक **सिनकोना** की छाल का निरंकुशता के साथ उपयोग किया गया। इस शोषण से चिंतित होकर 1860 के लगभग हालैंड की सरकार ने **हसकार्ल** तथा ब्रिटेन की सरकार ने **सर क्लीमेन मारखम** को दक्षिण अमेरिका भेजा। उनका ध्येय यह था कि **सिनकोना** के पौधों को हालैंड की सरकार द्वारा जावा द्वीप में लगाया जाय और ब्रिटेन की सरकार इसे मद्रास के निकट लगाने का प्रयत्न करे। किन्तु दोनों सरकारें अपने उद्देश्यों में असफल रहीं। कारण यह था कि वे कुनैन की उच्च मात्रा वाला पौधा पाने में असफल रहीं। कुछ समय पश्चात् भाग्य ने पलटा खाया और कुनैन की उच्चतम मात्रा वाले वृक्षों के कुछ बीज दिसम्बर 1865 में जावा द्वीप में पहुँचे। ये बीज दक्षिण अमेरिका के बोलिविया प्रदेश में मारमोरे नदी के तट पर जमा किये गये थे। इन्हीं एक पाउण्ड बीजों के आधार पर डच लोगों ने परिश्रम से जावा द्वीप में **सिनकोना** के उच्च कोटि के वृक्ष उगाये। फलस्वरूप शीघ्र ही जावा सारे संसार में कुनैन के मुख्य स्रोत के रूप में विख्यात हो गया।

सिनकोना की छाल में लगभग तीस ऐल्कोलॉइड मिलते हैं। लम्बे समय तक यह ज्ञात न हो सका था कि इनमें से केवल 'कुनैन' द्वारा मलेरिया का उपचार होता है। पेरिस के फार्मेसी विद्यालय में **पेलेतिये** और **कोविंतू** नामक दो आचार्यों ने अपने प्रयोगों से सिद्ध किया कि **सिनकोना** की छाल की गुणवत्ता उसमें उपस्थित कुनैन की मात्रा पर निर्भर करती है। उन्होंने ही 1820 में सर्वप्रथम सिनकोना की छाल से कुनैन को पृथक किया। इन्हीं प्रयोगों के फलस्वरूप कुनैन की उच्च मात्रा वाले वृक्षों की छानबीन आरम्भ हुई और अन्ततः कुनैन प्राप्त करने के लिए उच्च कोटि की सिनकोना की जातियों को चुना गया।

सौ वर्षों से भी अधिक समय तक कुनैन को प्रयोगशाला में बनाने के प्रयत्न यूरोप और अमेरिका में चलते रहे। सफलता न मिलने पर उसके प्रतिस्थापियों के निर्माण के प्रयत्न भी किये गये। उसमें भी आरम्भ में सफलता न मिली। बाद में कुछ यौगिक मिले, जिनमें मलेरिया के उपचार की सम्भावना दिखी। इनमें 'एटेब्रीन' और 'प्लाजमोक्विन' मुख्य थे।

इसी बीच द्वितीय महायुद्ध छिड़ने के कारण मित्र राष्ट्रों को कुनैन मिलना बन्द हो गया, क्योंकि जापानियों ने जावा द्वीप पर अधिकार कर लिया था। उन दिनों उच्च स्तर पर अनुसन्धानों के फलस्वरूप अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय के **वुडवर्ड** तथा सहयोगियों ने कुनैन अणु का प्रयोगशाला में निर्माण किया। अनेक प्रतिस्थापियों की भी खोज हुई जिनसे मलेरिया का उपचार सम्भव हो सका। परन्तु कुछ समय के उपरान्त ऐसे संकेत मिले जिनसे पता

(शेष पृष्ठ 5 पर)

अपशिष्ट नाभिकीय ईंधन विकिरण संरक्षण

○दिलीप भाटिया○

राजस्थान परमाणु बिजलीघर की इकाई 1 एवं 2 में रिएक्टर से अपशिष्ट ईंधन निकालकर नवीन ईंधन भरने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। विद्युत्-उत्पादन जारी रखते हुए ईंधन भरणीय संयंत्र द्वारा यूरेनियम डाइ ऑक्साइड ईंधन डाला जाता है। वर्तमान क्षमता पर औसत 400 ईंधन गट्ठे प्रति माह दोनों रिएक्टरों से निकाले जाते हैं। ईंधन स्थानान्तरण संयंत्र द्वारा इसे ईंधन संग्रहागार में भेजा जाता है। रिएक्टर से निकला हुआ ईंधन गर्म व रेडियोसक्रिय होता है व स्थानान्तरण व संग्रहागार में इसकी शीतलता बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। हर कदम पर अपशिष्ट ईंधन का विकिरण संरक्षण आवश्यक है।

अपशिष्ट नाभिकीय ईंधन साधारणतया दो ईंधन गठ्ठे एक साथ एक स्थल से दूसरे उपकरण तक भेजे जाते हैं। यूरेनियम डाइ ऑक्साइड ईंधन गठ्ठे की लम्बाई 49.53 सेमी० व बाहरी व्यास 8.12 सेमी० होता है। एक ईंधन गठ्ठे में 19 पेंसिलें होती हैं। प्रत्येक पेंसिल का बाहरी व्यास 1.52 सेमी० व आन्तरिक व्यास 1.437 सेमी० होता है। प्रत्येक ईधन पेंसिल में 24 पैलेट होते हैं। प्रत्येक पैलेट की लम्बाई 2.007 सेमी० व व्यास 1.42 सेमी० होता है। ईधन भरणीय संयंत्र व ईधन स्थानान्तरण संयंत्र का डिजाइन इस प्रकार का होता है कि एक समय ऐसे दो ईधन गठ्ठों का परिवहन एक उपकरण से दूसरे उपकरण तक किया जा सके। रिएक्टर भवन से सेवा भवन तक इस अपशिष्ट ईधन को शटल में रखकर शटल में स्थानान्तरण ट्यूब द्वारा ईधन संग्रहागार में भेजा जाता है। ईधन निरीक्षण पूल में ये प्रथम बार आते हैं, इस पूल की क्षमता 25,500 इम्पीरियल गैलन पानी की होती है व इसका आकार 11 फुट ×24 फुट ×15 फुट 5 इंच (गहराई) होता है। इस निरीक्षण पूल में ईधन गठ्ठों को पूर्ण बरीकी से जाँचा जाता है व यह सुनिश्चित किया जाता है कि ईधन गठ्ठों की सभी पेंसिलें, शीथ (आवरण) व एण्ड प्लेट्स ठीक व सही हैं। इसके पश्चात् इस ईधन गट्ठे के जोड़े को ईधन संग्रहागार पूल में संग्रह के लिये स्थानान्तरित कर दिया जाता है। इस अपशिष्ट ईधन संग्रहागार की क्षमता 2,51,000 इम्पीरियल गैलन पानी की होती हैं व इसका आकार 68 फुट 5 इंच×25 फुट×23 फुट 6 इंच (गहराई) होता है। इस संग्रहागार पूल में एक ग्रिड में 30 स्टेनलेस स्टील की ट्रे होती हैं व हर ट्रे की क्षमता 11 ईधन गठ्ठे रखने की होती है। अपशिष्ट ईधन निरीक्षण पूल व संग्रहागार पूल की शीतलता बनाये रखने व रेडियोधर्मिता नियन्त्रित करने और विकिरण संरक्षण के उद्देश्य के शीतलन व स्वच्छीकरण संयंत्र निरन्तर कार्य करता रहता है व खनिज सहित साधारण पानी की रासायनिक जाँच करके पी एच मूल्यांकन व कन्डक्टिविटी मापन नियमित रूप से किया जाता है। बीटा-गामा विकिरण, आयोडीन—131 व अन्य विकिरण मूल्यों का भी मापन किया जाता है। पम्प, वाल्व, हीट एक्सचेंजर, आयन एक्सचेंज हॉपर्स व अन्य उपकरणों का संचालन व अनुरक्षण सुरक्षित तरीके से किया जाता है ताकि विकिरण संरक्षण के मापदण्डों का निर्धारित सीमाओं के भीतर ही पालन किया जा सके।

अभियन्ता एस ई, ईधन भरणीय अनुभाग, राजस्थान परमाणु बिजलीघर, अणुशक्ति-323203 (कोटा)

अपशिष्ट ईंधन संग्रहागार की क्षमता प्रारम्भिक अवस्था में 24,200 ईंधन गठ्ठे रखने की ही थी। ईंधन पुर्नसंसाधन संयंत्र की सीमित क्षमता व अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा गार्ड के नियन्त्रण के कारण अपशिष्ट ईंधन निर्धारित अवधि के बाद संयंत्र स्थल से रीप्रोसेसिंग संयंत्र तक नहीं भेजा जा सका है। 485 दिन संग्रहागार में रखने पर इसकी रेडियोधर्मिता व गर्मी इतनी कम हो जाती है कि इसे भेजा जा सकता। पुर्नसंसाधन संयंत्र से इस अपशिष्ट ईंधन से प्लूटोनियम निकाला जाता है। रिएक्टर स्थल से रीप्रोसेसिंग संयंत्र तक ईंधन को 70 टन क्षमता वाले स्टेनलेस स्टील के फ्लास्क में भेजा जाता है। इस फ्लास्क में 220 ईंधन गठ्ठे भरे जाते हैं। फ्लास्क को सील बन्द करके डिकन्टामिनेट किया जाता है व यह लीक प्रूफ है, यह भी सुनिश्चित कर लिया जाता है। रेल मार्ग द्वारा स्पेशल ट्रेन से इसे भेजा जाता है। प्रशिक्षित व लाईसेन्सशुदा दक्ष कर्मचारी साथ में जाते हैं व सुरक्षा विभाग के कर्मचारी व विकिरण संरक्षण अनुभाग का सदस्य भी साथ में रहता है। संचार व्यवस्था का प्रावधान किया जाता है व आपातकालीन उपाय का भी प्रावधान है ताकि अपशिष्ट ईंधन के परिवहन के समय विकिरण संरक्षण बना रहे। आपातकालीन डीजल जनरेटर सेट भी लगा होता है। फ्लास्क के बाहरी आवरण पर नगण्य विकिरण मापा गया है व वायुमण्डल, पर्यावरण व जनता को अपशिष्ट ईंधन के परिवहन से कोई नुकसान या हानि नहीं होती है। अन्तर्राष्ट्रीय विकिरण संरक्षण नियमों का कड़ाई से पालन किया जाता है।

ईंधन संग्रहागार पूल की क्षमता बढ़ाने व रिएक्टर से निकलते रहने वाले अपशिष्ट ईंधन के सुरक्षित संग्रह के लिये पूल में दो ट्रे व ग्रिड के बीच की दूरी कम की गई व एक ग्रिड में 10 ट्रे के प्रारम्भिक प्रावधान से इसे शनैः शनैः 20, 24 व अब अधिकतम सीमा 30 ट्रे तक बढ़ा दिया गया है। फ्लोर लोडिंग क्षमता व शीतलन संयंत्रों की क्षमता का मूल्यांकन किया गया व जल की सतह पर विकिरण मापन किया गया। संयंत्र के तकनीकी प्रावधानों व निर्देशों के अनुसार सबसे ऊपर वाली ट्रे के ऊपर कम से कम 2 मीटर पानी की गहराई होना परम आवश्यक है। इस प्रावधान का पूरा ध्यान रखा गया। पानी सतह पर गामा विकिरण में मात्र 1 से 2 मिलीरेम प्रति घण्टा की वृद्धि मापी गयी व संग्रहागार के वायुमण्डल में इस अतिरिक्त संग्रह का प्रभाव नगण्य पाया गया। क्षमता बढ़ाने से 30 प्रतिशत अतिरिक्त ईंधन संग्रह किया जा सकता है व वर्तमान में अब इस पूल की क्षमता 31820 ईंधन गठ्ठे रखने की हो गयी है।

अपशिष्ट ईंधन के साधारण संग्रह के अतिरिक्त कभी-कभी दोषयुक्त नाभिकीय ईंधन को भी रिएक्टर से निकालकर संग्रह किया जाता है। ताप वहन प्रणाली में आयोडीन-131 की मात्रा प्रति दिन तीन बार मापी जाती है। अधिक मात्रा दोषयुक्त ईंधन होने का संकेत देती है। डिलेड न्यूट्रान मापन से दोषयुक्त चैनल का पता लगाकर शीघ्रातिशीघ्र इस दोषयुक्त ईंधन को रिएक्टर से निकाला जाता है। निरीक्षण पूल में इस दोषयुक्त ईंधन का अतिरिक्त सावधानीपूर्वक वरिष्ठ स्टाफ द्वारा निरीक्षण किया जाता है वं पेरीस्कोप यन्त्र द्वारा बारीकी से सूक्ष्म विश्लेषण किया जाता है। आयोडीन-131 की मात्रा वायुमंडल में मापी जाती है व सेवा भवन में विकिरण नही फैले. इसलिये संग्रहागार के दरवाजों को बन्द करके सील कर दिया जाता है। अगला ईंधन भेजने के पूर्व संग्रहागार के वायुमंडल का विकिरण मापन करके यह सुनिश्चित कर लिया जाता है कि विकिरण मात्रा निर्धारित नियमों के अन्तर्गत ही है। इस दोषयुक्त ईंधन को अलग सील्ड डिब्बे के अन्दर रखने के प्रावधानों पर कार्य चल रहा है, ताकि दोषयुक्त ईंधन की रेडियोधर्मिता सम्पूर्ण पानी में फैलने नहीं पाये।

राजस्थान परमाणु बिजलीघर की पहली इकाई में अब तक 1584 रिएक्टर चैनल व दूसरी इकाई में 2275 रिएक्टर चैनल से अपशिष्ट ईंधन निकाला जा चुका है व इस समय रिएक्टर संग्रहागार में 27179 अपशिष्ट

ईंधन गठ्ठे संग्रहीत हैं। प्रशासनिक, तकनीकी व सुरक्षा प्रावधानों का कड़ाई से पालन करके व अन्तर्राष्ट्रीय विकिरण संरक्षण मापदन्डों का परिपालन करने के कारण इस विद्युत् गृह में अभी तक कोई भी अपशिष्ट ईंधन सम्बन्धि दुर्घटना नहीं हुई है। हम पूर्णतया आश्वासित हैं कि हम अपनी उज्जवल व निर्मल छवि को हमेशा भविष्य में भी बना रखेंगे। अतिरिक्त सुरक्षा प्रावधानों व संयंत्रों का भी शीघ्र ही समावेश करके अपशिष्ट ईंधन को और भी अधि अच्छे तरीके से रखा जा सकेगा, ऐसा संकल्प हम करते हैं। विकिरण संरक्षण के हर पहलू का पूर्ण सावधानी तत्परता से पालन करने के लिये हम वचनबद्ध हैं व रहेंगे।

●

साइकिल : धरती का सर्वोत्तम यान

○राजीव गुप्ता○

क्या आप जानते हैं कि दुनिया में जितनी मोटरगाड़ियाँ हैं उनसे दुगुनी, यानी कि 80 करोड़, साइकिलें विश्व भर में दौड़ रही हैं? अन्तर्राष्ट्रीय आँकड़ों के अनुसार, हर साल कारों की तुलना में तिगुनी साइकिलों का उत्पादन होता है। यही नहीं, खाली एशिया महाद्वीप में जितनी साइकिलें चलती हैं वे संसार भर की इंजन से चलने वाली कुल गाड़ियों से कहीं ज्यादा हैं।

वायु-प्रदूषण, तेजाबी बरसात और खनिज ईंधनों के जलने से गर्माती इस दुनिया में साइकिल ही यातायात का ऐसा साधन है जो कोई प्रदूषण नहीं फैलाता, किसी खनिज ईंधन का इस्तेमाल नहीं करता, कम से कम ऊर्जा का प्रयोग करता है तथा सड़क पर न्यूनतम स्थान घेरता है।

जार्ज वर्क और **लारेन्स मैलोन** नामक अमेरिकी शोधकर्ताओं के अनुसार यदि किसी निश्चित आकार के पुल के ऊपर से हर घन्टे 40,000 लोगों को गुजारने के लिये मोटरगाड़ियों के वास्ते 12 पथ बनाने हों, बसों के लिये 4 और रेलगाड़ियों के लिये दो तो साइकिलों के लिये मात्र एक पथ या रास्ता ही काफी है। साथ ही, जहाँ तक एक मोटरगाड़ी के खड़ा करने या "पार्किंग" का सवाल है, उतनी जगह में तो 6-7 साइकिलें मजे में खड़ी की जा सकती हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के एक ताजा सर्वेक्षण के अनुसार एक मीटर चौड़ी सड़क पर एक घन्टे में 60 से 70 किलोमीटर की गति से दौड़ने वाली मोटरगाड़ियाँ जहाँ 750 सवारियों को ले जाती हैं, वहाँ 10 से 14 किलोमीटर की गति से चलने वाली साइकिलें 1,500 (यानी कि दुगुनी) सवारियों को ले जाती हैं।

ऊर्जा की दृष्टि से साइकिल धरती पर चलने वाला सर्वोत्तम वाहन है क्योंकि इसमें एक किलोमीटर के सफर में न्यूनतम ऊर्जा व्यय होती है। 5 किलोमीटर के दायरे तक तो इस द्विचक्रवाहिनी का कोई सानी ही नहीं।

सम्पर्क सूत्र : श्री हरीश अग्रवाल, डी-40, नई दिल्ली-110049

ईंधन गठ्ठे संग्रहीत हैं। प्रशासनिक, तकनीकी व सुरक्षा प्रावधानों का कड़ाई से पालन करके व अन्तर्राष्ट्रीय विकिरण संरक्षण मापदन्डों का परिपालन करने के कारण इस विद्युत् गृह में अभी तक कोई भी अपशिष्ट ईंधन सम्बन्धित दुर्घटना नहीं हुई है। हम पूर्णतया आश्वासित हैं कि हम अपनी उज्जवल व निर्मल छवि को हमेशा भविष्य में भी बनाये रखेंगे। अतिरिक्त सुरक्षा प्रावधानों व संयंत्रों का भी शीघ्र ही समावेश करके अपशिष्ट ईंधन को और भी अधिक अच्छे तरीके से रखा जा सकेगा, ऐसा संकल्प हम करते हैं। विकिरण संरक्षण के हर पहलू का पूर्ण सावधानी व तत्परता से पालन करने के लिये हम वचनबद्ध हैं व रहेंगे।

••

साइकिल : धरती का सर्वोत्तम यान

○राजीव गुप्ता○

क्या आप जानते हैं कि दुनिया में जितनी मोटरगाड़ियाँ हैं उनसे दुगुनी, यानी कि 80 करोड़, साइकिलें विश्व भर में दौड़ रही हैं? अन्तर्राष्ट्रीय आँकड़ों के अनुसार, हर साल कारों की तुलना में तिगुनी साइकिलों का उत्पादन होता है। यही नहीं, खाली एशिया महाद्वीप में जितनी साइकिलें चलती हैं वे संसार भर की इंजन से चलने वाली कुल गाड़ियों से कहीं ज्यादा हैं।

वायु-प्रदूषण, तेजाबी बरसात और खनिज ईंधनों के जलने से गर्माती इस दुनिया में साइकिल ही यातायात का ऐसा साधन है जो कोई प्रदूषण नहीं फैलाता, किसी खनिज ईंधन का इस्तेमाल नहीं करता, कम से कम ऊर्जा का प्रयोग करता है तथा सड़क पर न्यूनतम स्थान घेरता है।

जार्ज वर्क और लारेन्स मैलोन नामक अमेरिकी शोधकर्ताओं के अनुसार यदि किसी निश्चित आकार के पुल के ऊपर से हर घन्टे 40,000 लोगों को गुजारने के लिये मोटरगाड़ियों के वास्ते 12 पथ बनाने हों, बसों के लिये 4 और रेलगाड़ियों के लिये दो तो साइकिलों के लिये मात्र एक पथ या रास्ता ही काफी है। साथ ही, जहाँ तक एक मोटरगाड़ी के खड़ा करने या "पार्किंग" का सवाल है, उतनी जगह में तो 6-7 साइकिलें मजे में खड़ी की जा सकती हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के एक ताजा सर्वेक्षण के अनुसार एक मीटर चौड़ी सड़क पर एक घन्टे में 60 से 70 किलोमीटर की गति से दौड़ने वाली मोटरगाड़ियाँ जहाँ 750 सवारियों को ले जाती हैं, वहाँ 10 से 14 किलोमीटर की गति से चलने वाली साइकिलें 1,500 (यानी कि दुगुनी) सवारियों को ले जाती हैं।

ऊर्जा की दृष्टि से साइकिल धरती पर चलने वाला सर्वोत्तम वाहन है क्योंकि इसमें एक किलोमीटर के सफर में न्यूनतम ऊर्जा व्यय होती है। 5 किलोमीटर के दायरे तक तो इस द्विचक्रवाहिनी का कोई सानी ही नहीं।

सम्पर्क सूत्र : श्री हरीश अग्रवाल, डी-40, नई दिल्ली-110049

अगर आप 5 किलोमीटर साइकिल चलायें तो मात्र 110 कैलोरी खर्च होंगी जबकि उतनी ही दूर तक मोटरगाड़ी चलाने में आप 300 कैलोरी अर्थात् मोटे तौर पर तिगुनी ऊर्जा खर्च करेंगे। स्वास्थ्य हेतु भी यह अत्यन्त लाभदायक है।

इतना सब होते हुए भी साइकिल सवार को एक निम्न कोटि का जीव समझा जाता है क्योंकि अमेरिका जैसे अमीर देश में हर दो में से एक व्यक्ति मोटरगाड़ी रखता है और साइकिलें तो मात्र सैर सपाटे हेतु रखी जाती हैं। दूसरे छोर पर, चीन जैसे तीसरी दुनिया के देश में हरेक मोटरगाड़ी सवार के पीछे 75,000 साइकिल चालक खड़े होते हैं। भारत में मोटरगाड़ियों की तुलना में 90 गुना साइकिलें है।

परन्तु, धीरे-धीरे साइकिल अमीरों की सवारी बन रही है। हालैंड जैसे अमीर देश में मोटरगाड़ियों से दुगुनी संख्या में साइकिलें हैं। यही नहीं, वहाँ साइकिल सवारों के लिये 2, 5 मीटर चौड़ी अलग "लेन" बनायी है। जहाँ सड़क छोटी है, वहाँ 1 एक मीटर ऊँचा साइकिल पथ बनाया है, या एक सफेद रेखा खींच कर साइकिल वालों को भारी भरकम ट्रैफिक की मार से दूर रखा गया है। उनकी सुरक्षा के लिये चौराहों पर एक अलग लाल बत्ती का भी प्रावधान है। यही नहीं, हालैंड ने एक राष्ट्रीय नीति तय की है जिसके तहत वहाँ 1 लाख 35,000 किलोमीटर लम्बी सड़कें केवल साइकिल पथ के तौर पर बनाई है। पश्चिमी जर्मनी भी जाग रहा है, जहाँ के एरलागेन शहर की आधी सड़कें, करीब 150 किलोमीटर, केवल साइकिल हेतु बनायी गयी है।

इन सब की तुलना में दिल्ली शहर की 14,316 किलोमीटर लम्बी सड़कों में से मात्र 25 किलोमीटर सड़कें साइकिल पथ के रूप में प्रयुक्त होती है। एक ओर जहाँ हालैंड जैसे देश में (जो दिल्ली का दुगुना है) एक ट्रक वाला साइकिल चालक को सहर्ष गुजरने देता है, वहाँ दिल्ली में सड़क-दुर्घटना में मरने वाला हर पाँचवा व्यक्ति एक साइकिल वाला होता है।

जरूरत है हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन की। जब तक साइकिल सवार को अन्य वाहन चालकों का दर्जा नहीं दिया जायेगा तब तक दुर्घटनायें घटती रहेंगी।

चूंकि ज्यादातर दुर्घटनाएँ रात को होती है, इसीलिए साइकिल सवार को हेड लैंप और पीछे के रिफ्लैक्टर के अलावा "फ्लोरेसेन्ट टेप" या रात में चमकने वाले रंगों को टेप लगानी चाहिये। इसके अलावा साइकिलें काली नहीं अपितु सफेद या पीले रंग की होनी चाहिये, ताकि वे दूर से भी चमकती रहें।

आई० आई० टी० दिल्ली के प्रोफेसर **दिनेश मोहन** का कथन है कि "साइकिल-चालकों को हल्के मगर मजबूत थर्मोकोल के बने हेल्मेटों का प्रयोग करना चाहिये।" उनके अनुसार इन हेल्मेटों में हवा के लिये छेद होंगे और सड़क दुर्घटना में सिर में चोट लगने से भी बचा जा सकेगा।

अन्त में इस युग के महान दार्शनिक **शुमाकर** के अनुसार, "बड़ों को हमेशा छोटों की अनुकूलता का ध्यान रखना चाहिए।" जब भारत सरकार 'छोटा ही खूबसूरत' है के आधार पर एक राष्ट्रीय साइकिल नीति लागू करेगी तब ही गरीब साइकिल वाले का आधार हो सकेगा। अन्यथा, वह धुँआ उड़ाती मोटरगाड़ियों के कांरवा का गुबार ही देखता रह जायेगा। ● ●

(इस्वा फीचर्स)

विज्ञान वार्ता

○डॉ० अरुण आर्य○

(1) शैवाक (लाइकेन) : जो वायु प्रदूषण सहन नहीं कर सकते

शैवाक या लाइकेन (Lichens) विशेष प्रकार की वनस्पति हैं। सन् 1868 ई० में स्वीडेन के वनस्पति विज्ञानी स्वेन्डनर (Schwendener) ने बताया कि लाइकेन का शरीर दो वनस्पतियों-कवक एवं शैवाल से मिलकर बना है। लाइकेन की सहजीविता (Symbiosis) से दोनों वनस्पतियों को लाभ होता है। कवक को शैवाल से कई तरह के कार्बोहाइड्रेट मिलते हैं तो शैवाल को पानी एवं खनिज लवण प्राप्त होते हैं तथा उनका सूर्य के प्रकाश की तीव्र किरणों से बचाव होता है। ये दोनों वनस्पतियाँ अलग-अलग रहने में असमर्थ हैं।

लाइकेन सभी प्रकार के वातावरण में पाया जाता है क्योंकि इसमें वातावरण की उन अत्यधिक प्रतिकूल परिस्थितियों को सहन करने की क्षमता होती है जिन्हें अधिकांश पौधे सहन नहीं कर सकते। लाइकेन रेगिस्तानों, शीत, प्रदेशों, भूमध्य रेखा से ध्रुवों तक तथा उन स्थानों में जहाँ पानी की कमी होती है, पाया जाता है। ये मिट्टी, पत्थर तथा वृक्षों की छालों पर पाये जाते हैं। उत्तरी शीत प्रदेश जैसे आइसलैण्ड, ग्रीन लैण्ड तथा अलास्का में ये प्रमुख बनस्पति के रूप में पाये जाते हैं। कुछ स्थानों में ये इतनी अधिक मात्रा में पाये जाते हैं कि इनका प्रयोग जानवरों के चारे के रूप में होता है। जैसे क्लैडोनिया रेन्जीफेरिना (Cladonia rangiferina) 'रेन्यिर' के भोजन के काम आता है। मनुष्य भी कुछ लाइकेन को भोजन के रूप में प्रयोग करता है जैसे सेट्रैरिया आइलैण्डिका (Cetraria islandica), डर्मेटोकॉर्पान (Dermatocarpon), पारमेलिया (Parmelia) आदि। लाइकेन से कुछ रंग भी प्राप्त किये जाते हैं। रासायनिक प्रयोगशालाओं में प्रयुक्त होने वाला 'लिटमस' रोसेला (Rocella) नामक लाइकेन से प्राप्त किया जाता है। ऊनी और सिल्क के कपड़ों को रंगने के लिये ऑर्चिल (Or chill), रोसेला (Rocella) और लेकानोरा (Lecanora) से प्राप्त होता है। सूक्ष्मदर्शी से सम्बन्धित कार्यों में प्रयुक्त होने वाला ओरसीन (Orcein) आर्चिल का ही एक शुद्ध रूप है।

लाइकेन में पाया जाने वाला लाइकेनिन अनेक बीमारियों में प्रयोग किया जाता है। उसनिक एसिड नामक एण्टीबायोटिक लाइकेन से प्राप्त होता है। लैबोरिया पुल्मोनेरिया (Laboria pulmonaria) में कुछ ऐसे रसायन पाये जाते हैं जो फेफड़ों की बीमारियों में लाभदायक हैं। इस प्रकार लाइकेन आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ये अग्रज पौधे (Pioneer plants) हैं जो शिलाओं पर विकसित होते हैं, जिससे शिला का कणीकरण होने लगता है फलस्वरूप मृदा का निर्माण होता है। इसके पश्चात् इन्हीं स्थानों पर वनस्पति जगत् के अन्य नन्हें पौधे जैसे ब्रायोफाईट आदि विकसित होने लगते हैं।

प्रवक्ता, वनस्पति विज्ञान विभाग, विज्ञान संकाय, म० स० विश्वविद्यालय, बड़ोदरा, गुजरात-390002

लाइकेन की वृद्धि बहुत धीरे-धीरे होती है। कुछ लाइकेन प्रति वर्ष 1 मि० मी० की दर से बढ़ते हैं तो कुछ दूसरे 4 से० मी० प्रति वर्ष की दर से। इसका कारण यह है कि लाइकेन को वातावरण की अनुकूलतम दशायें बहुत कम समय के लिये ही मिलती हैं। अत्यधिक आर्द्रता, कम तापक्रम तथा मद्धिम प्रकाश लाइकेन की वृद्धि के लिये उपयुक्त होता है। लाइकेन में पानी का संरक्षण करने की कोई विशेष विधि नहीं होती। पानी उपलब्ध होने पर लाइकेन पानी को (100 से 300 प्रतिशत तक) शोषित कर लेते हैं।

प्रमुखतया लाइकेन को तीन समूहों में बाँटा जा सकता है, क्रस्टोज, फॉलियोज और फ्रुटीकोज (Crustose, Foliose, Fruticose)। इनका आकार बहुत छोटा होता है, लेकिन कभी-कभी ये कई मीटर लम्बे हो सकते हैं। लाइकेन आधार से धागे के आकार की संरचनाओं द्वारा जुड़े रहते हैं जिन्हें राहिज़ीन्स (Rh izines) कहते हैं।

लाइकेन्स में नील-हरित शैवाल (Myxophyceae) जैसे ग्लिओकैप्सा (Gleocapsa), नॉस्टाक (Nostoc), रिबुलेरिया (Rivularia), स्टीगोनेमा (Stegonema), हरित शैवाल (Chlorophyeeae), जैसे टेबॉक्सिया (Trebouxia), क्लोरेला (Chlorella), पामेला (Palmella), ट्रेन्टीपोलिया (Trentipohlia) एवं कुछ पीत-हरित शैवाल (Xanthophyceae) पाये जाते हैं। लाइकेन में पाये जाने वाले कवक डिस्कोमाइसीटीस, पाइरेनोमाइसीटीस, बैसीडियोमाइसीटीस (Discomycetes, Pyrenomycetes, Basidiomycetes) वर्ग के होते हैं।

(2) पौधा जो डोडो के साथ समाप्त होते-होते बचा

डोडो (Dodo, Didus ineptus) नाम है उस विशाल व न उड़ने वाले पक्षी का जो हिन्द महासागर के मारीशस नामक देश में बहुतायत से पाया जाता था। यह एक बडे कबूतर के समान पक्षी था जिसकी ऊँचाई 90 सेमी० और वजन 15 किलो था। यूरोपियन निवासियों ने इसके मांस को बहुत स्वादिष्ट बताया और थोड़ें ही समय में यह चिड़िया और इसके छोटे-छोटे बच्चे समाप्त होने लगे। इसके मारीशस में देखे जाने की आखिरी रिपोर्ट 1681 में मिली थी।

इस पक्षी के विलुप्त होने के साथ ही एक बहुत सुन्दर वृक्ष **कालबेरिया** (Calvaria major) के समाप्त होने की सम्भावना हुई, क्योंकि इसके बीजों के ऊपर मोटा छिलका होता है और वे तभी उगते हैं, जबकि वे डोडो के आहार नाल या गिजार्ड (gizzard) से कुचलकर और उपचारित होकर बाहर आते हैं। आज मारीशस में इस किस्म के मात्र 13 वृक्ष हैं जो कि 300 से अधिक वर्ष पुराने हैं। सौभाग्य से विसकोंसिन विश्वविद्यालय, अमेरिका के पक्षी वैज्ञानिक **डॉ० एस० ए० टेम्पल** ने **टर्की** को **डोडो** की जगह प्रयुक्त किया, जिसके गिजार्ड में उसी प्रकार के पत्थर पाये जाते हैं जैसे कि डोडो के गिजार्ड में। इस विधि से टेम्पल ने तीन बीजों को उगाकर यह निराशा दूर कर दी है कि डोडो के विलुप्त होने से यह वृक्ष भी संसार से चला जायेगा।

(3) प्लास्टिक का हवाई जहाज

जर्मनी के एक हवाई जहाज इन्जीनियर **हार्स्ट रसमेयर** (Horst Ruschmeyer) ने एक शक्तिशाली प्लास्टिक का हवाई जहाज बनाया है, जिसका नाम है 'रसमेयर एम० एफ०-85'। यह पायलट के अतिरिक्त तीन यात्रियों को ले जा सकता है। प्लास्टिक पदार्थ का नाम है विनाइलइस्टर रेजिन—जो कि धातु के स्थान पर वायुयानों

के पंख बनाने के काम आता है। इस वायुयान में आवाज भी कम होती है (65 डेसीबल) और ईंधन भी कम खर्च होता है। एक बार में यह 1500 किमी० दूर जा सकता है और इसकी चाल है 320 किमी० प्रति घन्टा।

(4) मोर : विविध उपयोग

प्राचीन काल से ही भारत के राष्ट्रीय पक्षी मोर ने भौतिक आवश्यकताओं को पूरा किया है, मनुष्यों का मनोरंजन किया है और उनके लिये प्रेरणा का स्रोत रहा है।

सुन्दरता के अतिरिक्त इसके विविध उपयोग हैं यथा इसके अण्डे और इसका मांस बहुत स्वादिष्ट होता है, जो राजाओं और आदिवासिओं को समान रूप से प्रिय है। इसका मांस अनेक दवायें बनाने के काम आता है।

पक्षियों के फेजियानिडी (Phasianidae) कुल में सम्मिलित किये गये मोर (Pavo cristatus) के अनेक नाम हैं जैसे—मोर, नेविलू, माइल, पेयोन, नीलकंठ और मयूर का अर्थ है 'मारने वाला' (a Killer)।

मयूरधृत और महामयूरा मोर के मांस और घी से बनाये जाते हैं, जो कई रोगों को समाप्त करते हैं। मोर का मांस श्वास या अजमा (Asthma) के रोगियों को ठीक करता है। मोर के पंख की राख उल्टी आने को रोकती हैं। मोर के मांस से निकाला गया तेल गठिया और बात के रोगियों को जोड़ों में आराम पहुँचाता है। मोर के पंखों का धुँआँ सर्प के काटने का इलाज (Antidote) है।

मोर के पंखों का प्रयोग सजावट की विविध वस्तुओं के बनाने में किया जाता है। इसके सुन्दर झाडुयें और पंखें बनाये जाते हैं। प्राचीन काल में इसके क्विल पंख (Quill feathers) लेखनी (कलम) बनाने के काम आते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मोर केवल सुन्दरता की चीज नहीं है। यह आर्थिक रूप से बहुत उपयोगी है और इसका प्रयोग भोजन, दवा एवं सुन्दरता की अनेकानेक वस्तुयें बनाने में किया जाता है। सम्भवत: इसी कारण इसे राष्ट्रीय पक्षी का सम्मान दिया गया। किन्तु आज इस अनुपम पक्षी को सुरक्षा प्रदान करने की आवश्यकता है।● ●

(16 का शेष)

से 'अगर-अगर' नामक पदार्थ प्राप्त होता है, जो जेली तथा आइस्क्रीम बनाने के काम में आता है। समुद्री शैवाल **लैमिनेरिया** से एलजिनिक अम्ल प्राप्त किया जाता है, जिसका उपयोग टाइपराइटर के रोलर, मोटर टायर उद्योग तथा अज्वलनशील फिल्मों के निर्माण में किया जाता है।

औषधि-निर्माण में भी शैवाल का योगदान दिनों दिन बढ़ रहा है। भूरे समुद्री शैवाल **लैमिनेरिया** से आयोडीन प्राप्त किया जाता है, जो घेघा (ग्वायटर) नामक बीमारी में उपयोग में लाया जाता है। इससे टिंचर आयोडीन का भी निर्माण किया जाता है। लाल शैवाल से प्राप्त 'अगर-अगर' पेट की बीमारियों के लिए लाभप्रद होता है। हरित शैवाल **क्लोरेला** से क्लोरेलिन नामक प्रति जैविक (एण्टीबायोटिक) प्राप्त किया गया है जो कई जातियों के जीवाणुओं की वृद्धि रोकने में सहायक है।

वर्तमान युग में कुछ शैवाल जैसे **क्लोरेला** तथा **सेनडेसमस** अन्तरिक्ष अनुसन्धान में अन्तरिक्षयान के अन्दर वातावरण को शुद्ध रखने के लिए प्रयोग में लाये जा रहे हैं। अतएव शैवाल हमारे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।● ●

('आकाशवाणी' इलाहाबाद से साभार)

शैवाल और उनकी उपयोगिता

○डॉ० विनोद कुमार ललोरिया○

शैवाल पौधों का वह समूह है जो पर्णहरिम युक्त, संवहन-ऊतक रहित तथा अत्यन्त ही सरल होते हैं। इन पौधों में वास्तविक जड़, तना तथा पत्तियाँ नहीं होती हैं। मुख्यतः यह सूक्ष्म होते हैं। यह एककोशीय, मण्डलीय अथवा बहुकोशीय तन्तुमय होते हैं और सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से ही देखे जा सकते हैं, परन्तु कुछ समुद्री शैवाल विशालकाय भी होते हैं। इस वर्ग के पौधों के अध्ययन को 'फाइकॉलोजी' कहते हैं। इनकी 20,000 से अधिक जातियाँ हैं।

शैवाल ताजे जल यथा तालाब व नदियों, खारे समुद्री जल तथा गरम जल के झरनों में अधिकतर मिलते हैं। ये नम मृदा, पेड़ों के तनों तथा चट्टानों पर भी पाये जाते हैं। गर्म जल के झरनों में ये शैवाल 70° से 80° सेन्टीग्रेड तापक्रम पर भी जीवित रह कर अपना जीवन-चक्र पूरा करते हैं। इसके विपरीत कुछ शैवाल हिमाच्छादित पर्वतों की चोटियों पर तथा ध्रुवीय प्रदेशों में बहुत ही कम तापक्रम पर भी पाये जाते हैं। कुछ शैवाल अन्य बड़े पौधों तथा जन्तुओं के शरीर के अन्दर भी वास करते हैं और 'सहजीवन' में रहते हैं। कभी-कभी शैवाल 'परजीवी' भी होते हैं जैसे **सिफैल्यूरस** जो कि चाय, काफी आदि की पत्तियों पर परजीवी होता है और लाल गेरुवी अथवा 'रेड रस्ट' नामक बीमारी इन पौधों पर उत्पन्न करता है। कुछ शैवाल पर्णहरित रहित कवक के साथ सहजीवन में रहकर एक नये प्रकार के जीव की रचना करते हैं, जिन्हें **लाइकेन** अथवा छड़ीला कहते हैं। **लाइकेन** को हम भोजन में सुगन्ध (खुशबू) लाने के लिए मसालों के साथ अथवा अलग से उपयोग करते हैं।

शैवाल विभिन्न रंगों के होते हैं और इसी कारण बहुधा इनके वासस्थान भी विभिन्न रंगों के दिखते हैं यथा हरित अथवा नील-हरित जल, लाल समुद्र तथा रेड स्नो। शैवाल के विभिन्न कुलों के नाम भी इन्हीं रंगों के कारण पड़े हैं जैसे हरित शैवाल, नील-हरित शैवाल, पीत-हरित शैवाल, लाल शैवाल तथा भूरे शैवाल। लाल तथा भूरे शैवाल मुख्यतः समुद्र में ही मिलते हैं। इन विभिन्न रंगों का कारण है इनमें मिलने वाले प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया में उपयोगी रंगीन पदार्थ जिनकी मदद से ये सूर्य के प्रकाश का अधिक से अधिक उपयोग कर पाते हैं।

प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया में ये शैवाल विभिन्न प्रकार का भोजन संचित करते हैं जैसे हरित शैवाल, उच्च समुदायों के पौधों की तरह मण्ड; नील-हरित शैवाल विशेष प्रकार का मण्ड मिक्सोफाइतियन स्टार्च तथा प्रोटीनयुक्त साइनोफाइसिन, पीत-हरित शैवाल तेल अथवा वसा, लाल शैवाल विशेष प्रकार का मण्ड फ्लोरीडियन स्टार्च तथा भूरे शैवाल एक प्रकार का एल्कोहॉल मैनिटॉल का निर्माण करते हैं।

आकार में बहुत सूक्ष्म होने के कारण शैवालों की ओर बहुत कम ध्यान आकर्षित हुआ है और ऐसा समझा जाता है कि शैवाल व्यर्थ के पौधे हैं तथा इनका कोई उपयोग नहीं। वास्तविकता यह है कि शैवाल, उच्च कुल के पौधे के साथ, पर मुख्य रूप से पृथ्वी पर, पारिस्थितिकी सन्तुलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शैवालों की मुख्य उपयोगिता इनमें निर्मित और संचित भोजन है, जिसके कारण खाद्य शृंखला में ये उत्पादक कहलाते हैं। समस्त जन्तु प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भोजन के लिए इन पर निर्भर करते हैं तथा ये उपभोक्ता कहलाते हैं। प्रकाश

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद-211002

संश्लेषण की क्रिया में ये वातावरण से हानिकारक कार्बन डाइऑक्साइड गैस का अवशोषण करके जीवनदायक गैस ऑक्सीजन का निर्माण करते हैं, जो जीवों की श्वसन-क्रिया के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इनके अतिरिक्त ये मनुष्यों एवं जन्तुओं के भोजन के रूप में, कृषि में भूमि की उर्वरता बढ़ाने में, विभिन्न उद्योगों में. औषधि-निर्माण में, प्रयोग-शाला में होने वाले अनुसंधान तथा अन्तरिक्ष अनुसंधान में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

शैवालों की उपयोगिता

शैवाल भी उच्च कुल के पौधों की तरह प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया करके स्वयं ही अपना भोजन बनाते हैं। यह विश्व में खाद्य-संश्लेषण का अपनी तरह का एक विशिष्ट ढंग है जिस पर संसार के समस्त जीव निर्भर करते हैं। एक गणना के अनुसार विश्व में होने वाली समस्त प्रकाश-संश्लेषण क्रिया, जिसमें उच्च कुल के पौधों द्वारा किया गया प्रकाश-संश्लेषण भी शामिल है, का 90 प्रतिशत भाग शैवालों द्वारा ही सम्पादित होता है।

प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया के द्वारा पौधे, जिनमें मुख्यत: शैवाल हैं, तीन प्रकार की महत्वपूर्ण भूमिकायें निभाते हैं। इसमें उत्पादित भोजन पर ही विश्व के समस्त जीव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निर्भर रहते हैं। इस क्रिया में वातावरण से ली जाने वाली आवश्यक गैस कार्बन डाइऑक्साइड, जो अधिक मात्रा में जीवों के लिए हानि-कारक सिद्ध हो सकती है, का अवशोषण करके वातावरण को शुद्ध बनाये रखते हैं तथा इसी क्रिया में उत्पन्न जीवन-दायक गैस ऑक्सीजन का निरन्तर निर्माण करके जीवों में श्वसन-क्रिया बनाये रखते हैं।

कृषि में भी शैवाल अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। कुछ नील-हरित शैवाल वायुमण्डल के नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करके भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ा देते हैं। एक अनुमान के अनुसार ये शैवाल एक हेक्टेयर भूमि में 15-48 किलोग्राम नाइट्रोजन की प्रतिवर्ष वृद्धि करते हैं।

ऊसर भूमि जो खेती के लिए अनुपयोगी होती है, को यदि जलाक्रान्त खेतों में परिवर्तित कर दिया जाय तो इनमें नील-हरित शैवाल के उगने से भूमि की उर्वरता बढ़ जाती है तथा कुछ समय उपरान्त ऊसर भूमि का सुधार या उद्धार हो जाता है और वह उपजाऊ हो जाती है।

शैवालों में कार्बोहाइड्रेट, अकार्बनिक पदार्थ तथा विटामिन प्रचुर मात्रा में विद्यमान होते हैं। इसी कारण विश्व के अनेक देशों में इन्हें भोजन के रूप में मनुष्यों द्वारा उपयोग में लाया जाता है जैसे जापान में लाल शैवाल **पारफाइरा**, भारत तथा अन्य देशों में हरित शैवाल **अल्वा**, चीन में **नॉस्टाक कम्यून** तथा दुनिया के बहुत के समुद्र-तटीय क्षेत्रों में भूरे शैवाल **सारगासम, लैमिनेरिया** इत्यादि।

वर्तमान समय में एक कोशीय हरित शैवाल **क्लोरेला**, जिसमें 50 प्रतिशत प्रोटीन, 20 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट एवं वसा, विटामिन ए और डी प्रचुर मात्रा में विद्यमान होते हैं, का अत्यधिक मात्रा में संवर्धन करके 'बेकरी' (डबल रोटी आदि) बनाने के काम में लाते हैं।

उद्योग तथा व्यवसाय के क्षेत्रों में भी शैवाल अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। एककोशीय शैवाल, **डायटम्स** जो डायटमेशियस मृदा का निर्माण करते हैं तथा जिनकी कोशिकाभित्ति में बालू के कण पाये जाते हैं, का उपयोग चीनी मिलों में, बायलर तथा भट्टी में, डायनामाइट के अवशोषक के रूप में तथा काँच, पोर्सलीन इत्यादि के निर्माण में किया जाता है। **कॉन्ड्रस** नामक समुद्री शैवाल से केरोगेनिन नामक पदार्थ निकाला जाता है, जिसका उपयोग श्रृंगार प्रसाधनों की वस्तुओं को बनाने में होता है। कुछ समुद्री शैवाल जैसे **जेलेडियम** तथा **ग्रैसिलेरिया** आदि

(शेष पृष्ठ 14 पर)

दो कवितायें

पहाड़, गाँव और भगीरथ

प्रकाश तातेड़

पहाड़ ! ओ पहाड़ !!
कहाँ गये तुम्हारे पेड़,
तुम्हारे बच्चे,
कैसे लुट गया तुम्हारा जंगल,
तुम्हारा परिवार,
कौन कर गया तुम्हें नंगा
एकदम नंगा,
कुछ तो बतलाओ, मेरे पहाड़ !
गाँव ! ओ गाँव !!
कहाँ गया तुम्हारा मासूम मौसम
देकर मानसूनी मातम
कैसे पड़ गया तुम्हारे यहाँ
स्नेह और विश्वास का अकाल
कौन कर गया तुम्हें भूखा
प्यासा, अधनंगा,
यह तो बताओ, मेरे गाँव !
भगीरथ ! ओ भगीरथ !
कहाँ गई तुम्हारी लगन और कर्मनिष्ठा
कैसे छूटी तुम्हारी
लोक कल्याण की भावना
कौन कर गया मैली, तुम्हारी गंगा
पतित पावनी गंगा
अब तो बोलो ! मेरे भगीरथ !
पहाड़, गाँव और भगीरथ
आज मरणासन्न हैं
इन्हें चाहिए
हमारा कोमल संवेदन । ● ●

नवगीत, नई आबादी, कांकरोली, जिला-राजसमन्द (राजस्थान)

लौट गया बादल

प्रकाश तातेड़

हर साल की तरह
बादल आये
मगर, बिन बरसे ही
लौट गये ।
शायद आकाश से
बादलों ने देख लिया
वह सब कुछ
जो हम नहीं देख पाते
धरती से ।
निरन्तर फैलता
रेत का सागर
नंगी पहाड़ियों पर
जंगल की लाश
विराम झरने
सूखी नदियाँ
प्यासी झीलें
निर्जीव बस्तियाँ
संवेदनहीन मानव
खून की होलियाँ
साँप से ज्यादा विषैले
आदमी के इरादे
और भी न जाने क्या-क्या
देख लिया बादल ने
तभी तो लौट गया
बिन बरसे ही । ● ●

नवगीत, नई आबादी, कांकरोली, जिला-राजसमन्द (राजस्थान)

शैवाल द्वारा खाना बनाने की गैस

○डॉ० करम पाल सिंह○

जैवप्रौद्योगिकी विज्ञान की एक आधुनिक तकनीकी का ज्वलंत प्रमाण है जिसने विज्ञान जगत् में अपने नये-नये चमत्कार दिखाए हैं। जैवप्रौद्योगिकी तकनीकी वह तकनीकी है जिसमें जीवित जीवों या जीवों के अंगों का उपयोग उत्पादों को बनाने या सुधारने के लिए किया जाता है ताकि पौधों या पशुओं की नस्लों में सुधार हो सके या विशिष्ट उपयोगों के लिए सूक्ष्मजीवों का विकास हो सके। इस प्रकार जैवप्रौद्योगिकी से खाद्य उत्पादन के तीन महत्वपूर्ण पहलुओं में अनुसंधानों की असीमित सम्भावनाएँ पैदा हुई हैं। ये पहलू हैं :

(क) किस्मों का सुधार,

(ख) उत्पादन में स्थिरता और

(ग) उत्पादन लागत को प्रभावित करना।

अब वैज्ञानिक जैवप्रौद्योगिकी तकनीकी की सहायता से खाना बनाने वाली गैस "मीथेन" का विकल्प ढूंढने में सफल हुए हैं। वनों की निरन्तर कटाई से पारिस्थितिकी में असन्तुलन पैदा होगा। गोबर को ईंधन के रूप में काम में लेने से बढ़ते रासायनिक खादों के मूल्यों में वृद्धि और खाड़ी में उत्पन्न स्थिति से जन्मी जटिल समस्याओं का एक गठबन्धन बन गया है। वैज्ञानिकों ने इसके विकल्प के लिए एक "शैवाल-जीवाणु-प्रक्रम" तैयार किया है, जिसके द्वारा वातावरण की कार्बन डाइऑक्साइड गैस को मीथेन में बदला जाता है, जो खाना बनाने के काम में उपयोग की जाती है। लेवल विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने अपनी प्रयोगशाला में ऐसे सफल परीक्षण किए हैं जिनके द्वारा शैवाल-जीवाणु-प्रक्रम की सहायता से मीथेन गैस की पर्याप्त मात्रा लगातार मिलती रहती है। उन्होंने शैवाल के जैव-द्रव्यमान, सूर्य के प्रकाश और वातावरण की कार्बन डाइऑक्साइड को इस प्रक्रम में उपयोग किया है। इसके लिएशैवाल जैव द्रव्यमान को एक संक्षेपक में डाला जाता है, जहाँ मीथेन गैस बनती है। यह पूरा प्रक्रम एक बन्द चक्र के रूप में चलाया जाता है और इस प्रक्रम को कहीं भी बनाकर शुरू किया जा सकता है।

स्पाइरुलिना मैक्जिमा (**Spirulina maxima**) एक नील-हरित शैवाल है जिसका यह गुण है कि वातावरण की वायु से मिलकर बारह घण्टों के भीतर ही अपनी आबादी से दुगुनी ऊर्जा बनाता है। अतः स्पष्ट है कि **स्पाइरुलिना मैक्जिमा** वातावरण की वायु से मिलकर लगातार मीथेन गैस बनाती रहती है। वैसे आधुनिक समय में मीथेन गैस को नगरपालिकाओं, फैक्टरियों और कृषि के बेकार अवयवों के द्वारा भी तैयार किया जाता है। परन्तु इससे

4/46, सेक्टर 2, राजेन्द्र नगर, साहिबाबाद, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश

मीथेन गैस की मात्रा पर्याप्त नहीं मिलती। अब कनाडा के वैज्ञानिकों ने शैवाल की एक ऐसी किस्म का पता लगाया है जो बहुत कम समय में तैयार हो जाती है और जिसका उपयोग "शैवाल-जीवाणु-प्रक्रम" में हो सके और साथ ही सूर्य के प्रकाश और वातावरण की वायु से मिलकर मीथेन गैस बना सके।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैवप्रौद्योगिकी के विभिन्न तरीकों का उपयोग करके हम खाना बनाने वाली गैस की समस्याओं से छुटकारा पा सकते हैं। इसका अन्य लाभ यह भी है कि वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड से उत्पन्न प्रदूषण को भी कम किया जा सकता है। वैज्ञानिकों का यह विश्वास है कि इन खोजों को आगे बढ़ाकर हम भावी जनसंख्या की समस्याओं को सुलझाने में भी अवश्य ही सफल होंगे।

●●

गोबर के समुचित उपयोग हेतु गोबर गैस संयंत्र

○जितेन्द्र गौड़○

ईंधन के रूप में गोबर का प्रयोग आदि काल से प्रचलित है। ऋषि-मुनि इसका प्रयोग हवन-यज्ञ में तथा गृहस्थ इसके कण्डे बनाकर चूल्हों में जलाते आ रहे हैं। गोबर का दूसरा बड़ा उपयोग खाद के रूप में होता है। हमारे देश के ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 7-8 करोड़ टन गोबर प्रतिवर्ष कण्डे बना-बना कर घरेलू चूल्हों में जलाया जाता है, जहाँ इनकी कुल ऊर्जा का मात्र 11 प्रतिशत भाग ही तापीय ऊर्जा के रूप में प्राप्त होता है, शेष 89 प्रतिशत ऊर्जा व्यर्थ जाती है। ईंधन के रूप में गोबर के कण्डों के उपयोग में एक समस्या इन्हें थोपने, सुखाने व भण्डारण की है। बरसात की ऋतु में यह समस्या और भी विकट हो जाती है। इन कण्डों को चूल्हों में जलाने से होने वाला धुआँ आँखों, फेफड़ों व चमड़ी पर बुरा प्रभाव डालता है तथा वायुमण्डल को प्रदूषित करता है। इस प्रकार गोबर को मात्र ईंधन के रूप में चूल्हों में जलाना चिन्ता का विषय है।

गोबर का खाद के रूप में प्रयोग भी चिरकाल से हो रहा है। इस हेतु प्राचीन परम्परा गोबर को बन्द गड्ढों में किण्वित कर कार्बनिक खाद प्राप्त करना है। इस विधि में गोबर का लगभग 50 प्रतिशत भाग ही कार्बनिक खाद के रूप में प्राप्त होता है। कुछ गाँवों में गोबर को घर से दूर खुले स्थान पर कूड़े-कचरे के साथ टीलों के रूप में इकट्ठा किया जाता है जिससे गोबर में उपस्थित आवश्यक पोषक तत्व नष्ट हो जाते हैं तथा आस-पास गन्दगी फैलती है।

गोबर के दुहरे उपयोग हेतु देस में गोबर गैस संयंत्र विकसित किए गए हैं। इन संयंत्रों में गोबर व पानी को समान मात्रा में मिलाकर हवा की अनुपस्थिति में किण्वित कर ईंधन के रूप में 'गोबर गैस' व कार्बनिक खाद के

सहायक प्राध्यापक (बायोगैस), सी० टी० ए० ई०, उदयपुर-313001 (राजस्थान)

रूप में 'किण्वित स्लरी' प्राप्त की जा सकती है । इन संयंत्रों में डाली गयी ताजी स्लरी (गोबर व पानी) का लगभग 25 से 30 प्रतिशत भाग गोबर गैस में बदल जाता है, शेष 70-75 प्रतिशत भाग किण्वित स्लरी के रूप में गोबर गैस संयंत्र के निकास द्वार द्वारा स्वतः बाहर निकल जाता है। इस प्रकार साधारण खड्डों में गोबर का किण्वन कराने की बजाय गोबर को बायोगैस संयंत्र में डालकर गोबर गैस के अतिरिक्त 20 से 25 प्रतिशत अधिक कार्बनिक खाद प्राप्त की जा सकती है । गोबर गैस संयंत्र से निकलने वाली खाद में पौधों के लिए आवश्यक प्रमुख तीन तत्व नाइट्रोजन, फॉस्फोरस व पोटाश देशी खाद की तुलना में दो से तीन गुणा अधिक होते हैं तथा अन्य पोषक तत्व जैसे ताँबा, लोहा, जस्ता, कैल्शियम, बोरोन आदि भी उचित मात्रा में विद्यमान होते हैं। ताजी किण्वित स्लरी में लगभग 20 प्रतिशत नाइट्रोजन अमोनिया (NH_4) के रूप में होती है, जिसे पौधे मिट्टी से आसानी से सोख लेते हैं। साधारण कार्बनिक खाद में नाइट्रोजन नाइट्रेट या नाइट्राइट के रूप में होती है जिसे पौधे कुछ जटिल प्रक्रियाओं के पश्चात् सोख पाते हैं। इन रूपों में नाइट्रोजन की निक्षालन प्रवृत्ति भी ज्यादा होती है। किण्वित स्लरी से किसी प्रकार की दुर्गन्ध नहीं आती तथा इस पर मक्खियाँ तथा मच्छर भी पैदा नहीं होते। गोबर गैस संयंत्र की खाद में खरपतवार के बीज नहीं होते अतः इसके खेत में उपयोग से खरपतवार नहीं उगती जबकि साधारण कार्बनिक खाद के उपयोग से खेत में अपेक्षाकृत ज्यादा खरपतवार उग आते हैं, जो भूमि से भोजन प्राप्त करने में फसलीय पौधों से प्रतिस्पर्धा करते हैं फलस्वरूप फसल का उत्पादन घटता है।

ईंधन के रूप में गोबर गैस ग्रामीण क्षेत्रों में वरदान सिद्ध हुई है। एक घनमीटर गोबर गैस के उत्पादन हेतु 25 किग्रा० गोबर की आवश्यकता होती है। गैस की यह मात्रा प्रतिदिन 4 व्यक्तियों का खाना पकाने हेतु पर्याप्त है। यह गैस जिन चूल्हों में जलती है उनकी दक्षता लगभग 60 प्रतिशत होती है। इस प्रकार एक घनमीटर गोबर गैस से लगभग 12.3 किलोग्राम सूखे कण्डों के बराबर ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है तथा अपशिष्ट के रूप में 18 से 20 किलोग्राम किण्वित स्लरी भी प्राप्त होती है।

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि गोबर के कण्डे बनाकर साधारण चूल्हों में जलाने या खाद हेतु गोबर को बन्द खड्डों या खुले स्थानों पर डालने की बजाय गोबर गैस संयंत्र में डालकर स्वच्छ एवम् निर्धूम ईंधन व उत्तम खाद प्राप्त की जा सकती है। खाना पकाने के अतिरिक्त गोबर गैस का उपयोग रोशनी करने, डीजल तथा पेट्रोल इंजिन चलाने में भी होता है। गोबर गैस में 35-40 प्रतिशत तक कार्बनडाइऑक्साइड गैस होती है जिस कारण इसका लौ गति घटक अन्य ईंधनों की तुलना में कम है। अतः इसका उपयोग सुरक्षित है अर्थात् दुर्घटना की सम्भावनाएँ कम रहती हैं।

● ●

उड़ने वाले स्तनधारी : चमगादड़

○पंकज कुमार कर्ण○

आमतौर से शाम के धुँधलके में काली-काली चमगादड़ों को उड़ते हुए आपने अवश्य देखा होगा। खुले आसमान में स्वच्छ विचरण करते हुए इन चमगादड़ों को देखकर कुछ लोग इसे "पक्षी" समझ बैठते हैं। लेकिन वास्तव में चमगादड़ पक्षी नहीं, बल्कि एक "उड़ने वाली स्तनधारी" है। यह मुख्यत: उष्ण कटिबन्धीय स्तनपायी जीव है। अत: ये ध्रुवीय और बेहद ठंडे इलाकों में, कुछ देशों को छोड़कर विश्व में सभी जगह पाये जाते हैं। रीढ़ वाले ये जीव गुफाओं, खण्डहरों, प्राचीन तथा घने वृक्षों के गहन अन्धकार में रहते हैं। वहाँ पर ये उसकी छत से नीचे की ओर आँख बन्द किए उल्टा लटके रहते हैं। चमगादड़ जाग्रत अवस्था में ही नहीं, गहरी नींद, शीत निष्क्रियता और मर जाने के बाद भी उसी तरह (उल्टा) लटके रहते हैं।

जीव वैज्ञानिकों ने इन्हें स्तनधारियों के रूप में इसलिए वर्गीकृत किया है, क्योंकि स्तनधारियों की भाँति इनके कान बाहर की ओर होते हैं, इनके शरीर पर बाल होते हैं। इनके हृदय में चार कक्ष होते हैं और इनके शरीर का ताप एक-सा बना रहता है। यही नहीं, मादा चमगादड़ अन्य स्तनधारियों की भाँति ही अपने बच्चों को दूध भी पिलाती हैं और यदि गौर से देखें तो इसके पंख अन्य पक्षियों की भाँति नहीं होते। पंख सदृश दिखने वाला अंग वास्तव में उसकी उँगलियों के बीच में फैली हुई त्वचा है।

चमगादड़ समूह में रहना पसन्द करते हैं। यही कारण है कि बड़े वृक्षों या खण्डहरों में इनके झुण्ड के झुण्ड देखने को मिलते हैं। खाने-पीने की आदतों, उनके आकार आदि के अनुसार चमगादड़ों को दो मुख्य वर्गों में विभक्त किया गया है—**माइक्रोकायरोप्टेरा** (छोटी चमगादड़) तथा **मैगाकायरोप्टेरा** (बड़ी चमगादड़)।

माइक्रोकायरोप्टेरा वर्ग की चमगादड़ों के मुख पर थूथन होता है और उनके "हाथों" में नाखून होते हैं। इसकी पूँछ भी होती है। इस वर्ग के चमगादड़ दक्षिण अमेरिका में पाये जाते हैं और मांसाहारी होते हैं। छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों को यह बड़े चाव से खाते हैं। इस वर्ग की वेम्पायर चमगादड़ जीव-जन्तुओं का रक्त चूसते हैं। वेम्पायर के दाँत काफी तेज होते हैं। इसमें चूसे हुए रक्त को इकट्ठा करने के लिए कुछ विशेष प्रकार के थैलीनुमा अंग पाये जाते हैं।

ये चमगादड़ जीवन भर ऐसे कीटों का आहार करते हैं, जिनमें चर्बी (वसा) मौजूद होती है। फिर भी इनके शरीर पर चर्बी का कोई कुप्रभाव देखने में नहीं आता है।

लेकिन **मैगाकायरोप्टेरा** बड़े आकार के चमगादड़ होते है, जिसका सिर लोमड़ी के सिर पर जैसा होता है। इसलिए इन्हें 'फ्लाइंग फॉक्स' के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें पूँछ का अभाव होता है और ये शाकाहारी होते हैं ; जामुन, बेर, अमरूद इत्यादि फलों को ये बड़े चाव से खाते हैं।

ग्राम-छातापुर, पो०-सुरपतगंज, जिला-सहरसा—852137 (बिहार)

'इकोलोकेशन' के कारण चमगादड़ को अँधेरे में उड़ने तथा भोजन तलाशने में कोई तकलीफ नहीं होती है। दरअसल वह ऐसी ध्वनि तरंगे-पराश्रव्य ध्वनि तरंगे-उत्पन्न करती है, जिन्हें हम नहीं सुन सकते। ये तरंगे वस्तुओं से टकराकर चमगादड़ के पास लौटती हैं, जिसकी मदद से चमगादड़ अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं की सही स्थिति जान लेता है। शायद आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि चमगादड़ का गूँज की मदद से वस्तुओं की स्थिति ज्ञात करने का गुण, हमारे रडारों आदि की तुलना में बहुत अधिक दक्ष होता है।

सामान्यतया जून-जुलाई के महीने में मादा चमगादड़ एक बार में एक ही बच्चा देती है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि एक जोड़ा बनाने के बाद मादा चमगादड़ नर शुक्राणुओं को भंडारित कर लेती है और फिर उसे अपनी "सुविधानुसार" उपयोग करती है।

सभी स्तनपायी जन्तुओं की अपेक्षा चमगादड़ सरलता और शीघ्रता से शीत निष्क्रिय (हाइबरनेशन) की क्षमता रखता है। इसी गुण के कारण चमगादड़ दूसरे स्तनधारियों से अधिक फुर्तीले होते हैं। जाग्रत और सक्रिय अवस्था में इनके शरीर का तापमान 36 डिग्री सेण्टीग्रेड तक रहता है, जबकि उसी चमगादड़ के शरीर का तापमान जाड़े में 0.2 से 0.4 डिगी सेण्टीगेड तक हो जाता है। प्राय: वैज्ञानिक अनुसंधान हेतु चमगादड़ों को पकड़ कर रेफ्रीजरेटर में बन्द करके रखते हैं। रेफ्रीजरेटर में रखने पर ये तुरन्त अपने शरीर का तापमान गिरा लेते हैं और एकदम "गहरी नींद" में सो जाते हैं। उस समय इसके दिल की धड़कन 180 प्रति मिनट से गिरकर केवल 3 प्रति मिनट रह जाती है।

इस अवस्था में यह काफी दिनों तक जीवित रह सकता है, इस समय उसे भोजन की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। लेकिन जब वैज्ञानिक प्रयोग करने के लिए इसे रेफ्रीजरेटर से बाहर निकालकर अपनी हथेली पर रखते हैं, तब हाथ की गर्मी पाकर "नींद" खुल जाती है और वह पंख फड़फड़ाने लगता है और बहुत जल्दी सक्रिय भी हो जाता है।

चमगादड़ जामुन, बैर, अमरूद, नारियल आदि फलों को काफी नुकसान पहुँचाते हैं। साथ ही अनेक रोगों को भी फैलाते हैं। कुछ हानिकारक कीटाणु तो इसके शरीर से हमेशा चिपके रहते हैं। इन अवगुणों के बावजूद भी वह हमारे लिए उपयोगी है। वृक्षों पर अपने भोजन की तलाश में मंडराते समय ये अनजाने ही विभिन्न किस्मों के फूलों में पर-परागण क्रिया कर देते हैं। इतना ही नहीं, जमैका में, पाये जाने वाले राइनोलोफस और हिपोसिडेरास नाम के चमगादड़ों की बीट बहुत अच्छे खाद का काम करती है।

विचित्र बात तो यह है कि कुछ देशों में इसका मांस बड़े चाव से खाया जाता है। वास्तव में चमगादड़ का मांस काफी स्वादिष्ट और स्वास्थ्य वर्धक होता है। हमारे देश में पायी जाने वाले चमगादड़ का मांस अनेक रोगों के उपचार में लाभदायक पाया गया है। चमगादड़ की चर्बी वात रोग और गठिया की अचूक औषधि है।

●●

धातुयें और हम

○दिनेश मणि○

मानव के दैनिक जीवन के लिए रसायन अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं। ऐसा कौन सा क्षेत्र एवं पदार्थ बचा है जो उसके लिए उपयोगी न हो। विश्व एवं राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था को खाद्य, वस्त्र, औषधियाँ, धातुयें, लघु उद्योग आदि अनेक महत्वपूर्ण वस्तुओं से सुलझाया जाता है। अपने जीवन के प्रारम्भिक क्षणों से अन्तिम पल तक इसी में हम लिप्त रहते हैं।

यह सच है कि हम रसायनों के युग रह रहे हैं। हमारे पर्यावरण की सारी वस्तुयें और हम सब, रासायनिक यौगिकों के बने हैं। हवा, मिट्टी, पानी, खाना, वनस्पति और जीव-जन्तु ये सब रसायन की ही देन हैं। प्रकृति में सैकड़ों-हजारों रासायनिक पदार्थ हैं। रसायन न होते तो धरती पर जीवन भी नहीं होता।

हमने प्राचीन-काल से ही यह भेद करना सीखा है कि कौन से रासायनिक पदार्थ हमारे लिए अच्छे हैं, कौन से रासायनिक पदार्थ जरूरी हैं, कौन से लाभकारी हैं, कौन से हानिरहित हैं, तथा कौन से रासायनिक पदार्थ हानिकारक, जहरीले और नुकसानदायक हैं। रसायनों का प्रभाव अच्छा भी हो सकता है और, बुरा भी। यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे क्या रसायन हैं, उनके गुणधर्म क्या हैं और उनका इस्तेमाल कैसे और कितनी मात्रा में किया जाता है। कभी न कभी यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि उनका इस्तेमाल कौन करता है।

हम यहाँ रसायन के ही एक अंग धातुओं पर चर्चा करना चाहेंगे। धातुओं से मनुष्य का सम्बन्ध बहुत पुराना है। पाषाण युग के बाद तो धातुयें जीवन का मुख्य अंग बन गयीं। धातुओं के बर्तन, हथियार सिक्के सभ्यता के साथ-साथ धीरे-धीरे विकसित रूप में बनने लगे।

धातुयें सौन्दर्य प्रसाधनों, रंगों और वार्निशों, ईंधन में इस्तेमाल होने वाले द्रवों तथा गैसों, भवन निर्माण सामग्रियों, रासायनिक उर्वरकों, फसल सुरक्षा में काम आने वाले रसायनों आदि सभी में विद्यमान रहती हैं। वर्तमान सभ्यता धातुओं के उपयोग में इतना आगे बढ़ गयी है कि प्रदूषण जैसी समस्या भी इनसे अछूती नहीं रही है। इन हानिकर धातुओं में से कुछ या सभी हमारे कामकाजी और आवासीय पर्यावरण में वायु, जल और मृदा प्रदूषणों के रूप में आ जाते हैं।

कुल 65 तत्व गुणों के आधार पर धातु की श्रेणी में रखे गये हैं। वह तत्व जो विद्युत् का अच्छा सुचालक हो तथा जिसका विद्युत् प्रतिरोध परम ताप (°T) के प्रत्यक्ष समानुपाती हो, धातु के अन्तर्गत आता है। इसके अतिरिक्त धातु में ऊष्मीय चालकता, अधिक घनत्व, लचीलापन तथा चमक आदि गुण भी होने चाहिए। एक नवीनतम अनुमान के अनुसार 0.5, 20, 240, 250 तथा 310 मिलियन टन क्रमशः केडमियम, निकेल, लैड, जिंक तथा कॉपर अब

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद-211002

तक खुदाई (माइनिंग) के द्वारा निकाले जा चुके हैं तथा अन्ततः इसी जीवमण्डल में व्यर्थ पदार्थ के रूप में फेंके जा चुके हैं।

सारणी—1

विभिन्न लेश तत्वों (धातुओं) की पौधों या जन्तुओं के लिए आवश्यकता

लेश तत्व (धातु)	आवश्यकता	
	पौधों के लिए	जन्तुओं के लिए
आर्सेनिक	नहीं	हाँ
कैडमियम	नहीं	नहीं
क्रोमियम	नहीं	हाँ
कोबाल्ट	हाँ	हाँ
कॉपर	हाँ	हाँ
लैड	नहीं	नहीं
मैंगनीज	हाँ	हाँ
मरकरी	नहीं	नहीं
मोलिब्डिनम	हाँ	हाँ
निकेल	नहीं	हाँ
सेलेनियम	हाँ	हाँ
सिल्वर	नहीं	नहीं
टिन	नहीं	हाँ
जिंक	हाँ	हाँ

सारणी—2

कुछ लेश तत्वों (धातुओं) का प्राक्कलित वार्षिक उपयोग स्तर तथा वायुवाहित उत्सर्जन (सिल्टिंग) 1976

लेश धातु	उपयोग स्तर (टन)	प्राक्कलित वार्षिक वायुवाहित उत्सर्जन (टन)
कॉपर	30,00,000	14,000
जिंक	18;00,000	15,000
लैड	15,00,000	>9,000
मैंगनीज	12,00,000	19,000
क्रोमियम	5,00,000	>12,000

आर्सेनिक	3,00,000	9,500
निकेल	1,90,000	6,000
टिन	82,000	370
मोलिब्डिनम	28,000	900
कैडमियम	6,000	>300
मरकरी	2,000	>500
सेलेनियम	500	900
बेरीलियम	350	150

>=(से अधिक)

सारणी—3

कुछ प्रमुख धातुओं के स्रोत

	धातु	स्रोत
1.	कैडमियम	इलेक्ट्रोप्लेटिंग, जिंक उत्पादन, कैडमियम सैल उद्योग
2.	क्रोमियम	चमड़ा शोधन, एल्यूमीनियम इलेक्ट्रोप्लेटिंग, रसायन तथा उर्वरक उद्योग
3.	सीसा	बैटरी, बाल बियरिंग, सोल्डरिंग, कैबिल बारूद, प्रिंटिंग व पेंट उद्योग
4.	पारा	बैटरी, ट्यूबलाइट, मरकरी लैंप, पेंट उपकरण (बैरोमीटर, मैनोमीटर) उत्प्रेरक, कृषि रसायन (आरगेनोमरक्यूरल) तथा कागज उद्योग
5.	निकेल	इलेक्ट्रोप्लेटिंग उद्योग
6.	जिंक	बैटरी व कॉस्मेटिक उद्योग

विषैली धातुयें

साधारणतया उपयोग में आने वाली अधिकतर धातुयें परमाणु संख्या 19 (पोटेशियम) व परमाणु संख्या 84 (पोलोनियम) के मध्य आती हैं, लेकिन कैडमियम (48), पारा (80), सीसा (82) व बिस्मथ (83) इत्यादि धातुयें अत्यधिक विषैली हैं तथा इनकी अतिसूक्ष्म मात्रा भी प्रदूषण का कारण हो सकती है। चूंकि ये धातुयें सामान्य धातुओं से अपेक्षाकृत भारी हैं अतः इन्हें भारी धातुयें भी कहा जाता है।

पारा, सीसा व कैडमियम धातुओं के विषैलेपन की जानकारी प्राचीन काल से ही थी तथा इनके लवणों का विष के रूप में उपयोग किया जाता था लेकिन वर्तमान औद्योगिक युग में इन धातुओं का अनेकानेक रूपों में उपयोग होता है। इनकी उपयोगिता बढ़ने से खान क्षेत्रों का विकास हुआ तथा खदान गतिविधियाँ बढ़ गयीं। पर्यावरण में इन धातुओं की उपस्थिति का प्रमुख कारण खदान क्षेत्रों से बहकर आये लवण हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न उद्योगों (सारिणी-3) के उच्छिष्ठ स्राव के द्वारा भी ये धातुयें पर्यावरण में आती हैं। ● ●

अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार, 1990 के परिणामों की घोषणा

लेख पुरस्कार	बिजेता लेख
1. श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार पाँच सौ रुपये नकद एवं प्रशस्ति पत्र	लेख—"खनन क्षेत्रों में पर्यावरण संरक्षण-एक वैज्ञानिक प्रयास" लेखक—1. डॉ० ओम कुमार 2. श्रीमती प्रफुल्ल सोनीः वैज्ञानिक एस० डी० 3. श्री हर्षवर्धन वशिष्ठ पारिस्थितिकी एवं संरक्षण प्रभाग वन अनुसन्धान संस्थान, देहरादून
2. उत्तम लेखन पुरस्कार तीन सौ पचास रुपये नकद एवं प्रशस्ति पत्र	लेख—"पर्यावरण प्रदूषण-वनों द्वारा रोकथाम" लेखक—1. डॉ० अजय मेहरोत्रा, वैज्ञानिक एस० डी० 2. डॉ० राकेश कृष्ण सूरी पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, क्षेत्रीय कार्यालय (पश्चिमी क्षेत्र), ई—3/240, अरेरा कालोनी, भोपाल-16
3. सराहनीय लेखन पुरस्कार दो सौ रुपये नकद एवं प्रशस्ति पत्र	लेख—"वन्य पाणि एवं सड़क दुर्घटना" लेखक—श्री सतीश कुमार शर्मा, आरबोरिकल्चरिस्ट, विश्व वानिकी वृक्ष उद्यान, झालाना डूंगरी, बाई पास रोड, जयपुर-302 004
4. प्रोत्साहन पुरस्कार एक सौ रुपये नकद एवं प्रशस्ति पत्र	लेख—"प्रकृति के उड़न पुष्प तितलियाँ" लेखक—श्री शिवप्रसाद, वैज्ञानिक एस० सी० वन रक्षण प्रभाग, व० अ० सं०, देहरादून

इस प्रकार ऊपर लिखे लेखक अपने लेख के लिए अंकित नकद राशि और प्रशस्ति पत्र पाने के अधिकारी घोषित किये जाते हैं। श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार विजेता लेख के लेखक तीन व्यक्ति होने से तथा उत्तम लेखन पुरस्का विजेता लेख के लेखक दो व्यक्ति होने से उनकी विजित राशियाँ उन्हें योजना प्रावधान 11.3 के अनुसार समान भाग में बाँट कर दी जायेगी।

ग्रंथ पुरस्कारों का परिणाम बाद में घोषित किया जायेगा।

पंकज खुल्लर

निदेशक, वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून

सूखा : कारण और निवारण

○ अशोक कुमार ○

प्राकृतिक आपदाओं-सूखा, बाढ़, भूकम्प, ज्वालामुखी, चक्रवात, भूस्खलन आदि से भारी संख्या में जन-धन, पशु-धन एवं प्रकृति का विनाश तो होता ही है, विकास की गति भी मन्द पड़ जाती है। सूखे की अशंका तथा इसके सम्भावी प्रभावों की कल्पना मात्र से ही मन भयभीत हो उठता है। किसानों और खेतों की मौन पीड़ा को सिर्फ क्यूसेक, किलोग्राम और मिलीहेक्टेयर से नहीं नापा जा सकता, क्योंकि यह गाथा मानवीय उत्साह के अनिश्चित सफर और अस्तित्व की है। उन लोगों की है जो निराशा के अँधियारे में डटे हुए हैं। तरस तो इस बात पर आता है कि इतनी तरक्की के बावजूद देश अब भी "इन्द्र देवता" की दया पर ही निर्भर है। सूखे का आशय इस बात से है कि वर्षा कितनी कम हुई अथवा फसलों की आवश्यकता की अपेक्षा इसका वितरण कैसा रहा। इसका जल व खाद्य उपलब्धता पर क्या असर होगा ? पशुओं के चारे-पानी की क्या स्थिति होगी ? सूखे के लिये बहुत हद तक मानव स्वयं जिम्मेदार है। वनों की अंधाधुन्ध कटाई, उद्योगों की वृद्धि, जीवनाशक पदार्थों के प्रयोग, 'ग्रीन हाउस प्रभाव', ओजोन छिद्र आदि से सूखे की समस्या और विकट होती जा रही है। ये सभी कारण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मानसून को प्रभावित करते हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार सूखे के तीन कारण होते हैं। मौसम सम्बन्धी (वर्षा 25 प्रतिशत कम होना), जल सम्बन्धी (लम्बे समय तक सूखा से जलस्तर में कमी या नदियों में पानी का बहाव कम होना) और कृषि सम्बन्धी (फसलों का नष्ट होना)।

वर्षा की विफलता अथवा अनियमितता मानव के इतिहास का अभिन्न अंग रहा है। भारत में सूखा सभी युगों एवं सदियों में पड़ते आये हैं। सन् 1880 के अकाल आयोग के एक अनुमान के अनुसार भारत में औसत रूप से 7 अच्छे वर्षों के बाद दो खराब वर्ष आते हैं। संसार के इतिहास में 34 भयंकर अकाल पड़ें हैं जिनमें 18 भारत में ही पड़े।

'द्वापर युग' के 'महाभारत काल' में सम्राट युधिष्ठिर के समय में भयंकर अकाल पड़ा था, जिसका उल्लेख 'महाभारत' में मिलता है। पिछले 1000 वर्षों में भारत में जो अकाल पड़े हैं उनका संक्षिप्त इतिहास निम्न प्रकार है।

सन् 917 में कश्मीर में भयंकर अकाल पड़ा था जबकि सारी झेलम नदी जलरहित हो गई तथा सारे प्रदेशमें मुर्दों तथा हड्डियों के ढेर बिखरे हुए थे। सन् 1343 में मुहम्मद तुगलक के शासन काल में भयंकर अकाल पड़ा जिसमें कस्बे तथा जिले जनसंख्यारहित हो गये और तुगलक को राजधानी दिल्ली से दौलताबाद बदलनी पड़ी।

शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

अकबर के काल में इतिहास का भयंकरतम् सूखा पड़ा। ब्रिटिश शासन काल में 4 भयंकर तथा 12 सामान्य सूखे पड़े। 1770 का अकाल इतना भयंकर था कि सर हन्टर के अनुसार लोग अपने बाल-बच्चों को बेचने लगे, किन्तु उन्हें कोई खरीदने वाला नहीं था।

20वीं शताब्दी भी अकाल एवं सूखे की चपेट में बार-बार आयी। इस सदी में मुख्य रूप से 1906, 1913-14, 1918, 1920-21, 1943, 1965 और 1987 में सूखा पड़ा। इस सदी में सबसे खराब साल 1918 का रहा जब पूरे भारत में औसत वर्षा 65 सेमी० हुई, औसतन 88 सेमी० के मुकाबले 26 कम। 1943 का बंगाल दुर्भिक्ष हाल ही के वर्षों में भयंकरतम् रहा। कलकत्ता विश्वविद्यालय के सर्वेक्षण के अनुसार 35 लाख से अधिक लोग काल के गाल में चले गये। पशु-धन की भी भारी हानि हुई साथ ही साथ इस दुर्भाग्य की घड़ी में हैजा, चेचक और प्लेग जैसी महामारियाँ अपना दुष्प्रभाव दिखाने से नहीं चूकीं। 1987 का सूखा इस सदी का भयावह सूखा रहा जिसने केरल से हिमांचल प्रदेश और गुजरात से उड़ीसा तक के लाखों किसानों की कमर तोड़ दी किन्तु इसमें जन-हानि कम हुई थी। इस वर्ष देश के 21 राज्य सूखे की चपेट में रहे। वर्ष 1991 की मानसूनी वर्षा की अनियमितता तथा वर्षा का लम्बा अन्तराल सूखे की सम्भावना को व्यक्त कर रहा है।

सूखे का सीधा सम्बन्ध मानसून से है। किसी देश में वर्षा की मात्रा एवं समय उस क्षेत्र में आने वाले मानसून के ऊपर निर्भर होता है। भारत एशिया के मानसूनी जलवायु वाले प्रदेशों में स्थित है। इससे भारत की जलवायु पर मानसूनों का बहुत बड़ा प्रभाव है। डॉ० कोटेश्वरम् की आधुनिक विचारधारा के अनुसार मानसूनी पवनों के अन्तर्गत अधोमण्डल (Troposphere) में स्थित उष्णकटिबन्धीय पश्चिमी जेट (Tropical Easterly Jet) प्रभृति आँधियाँ, वर्ष में एक निश्चित ऋतु में प्रवाहित होती है। मानसूनी पवनों की उत्पत्ति अधोमण्डल में विकसित सामयिक आँधियों से सम्बन्धित मानी जाती है। अधोमण्डल में उत्पन्न आँधियों के फलस्वरूप वायुमण्डल की वाष्प भरी पवनें एक दिशा में प्रवाहित होकर ऊपरी वायुमण्डल में पहुँचती हैं और अनेक दिशाओं में फैल जाती हैं तथा पवनों का जो प्रवाह निम्न अधोमण्डल में पहुँचता है वह जेट स्ट्रीम (Jet Stream) का रूप ले लेता है और यही अधिक ऊँचाई पर पहुँचकर द्रवीभूत होकर धरातल पर वर्षा कर देता है।

मानसून को प्रभावित करने वाली अनेक दशायें हैं जो वर्षा अथवा सूखा का कारण बनती हैं—

(1) मई के महीने में यदि हिन्द महासागर में अधिक उच्च दाब हुआ तो उत्तरी भारत में प्रायः प्रति-चक्रवातीय पवनें उत्पन्न होती हैं फलस्वरूप भूमध्यरेखीय न्यून दाब के कारण मानसूनी पवनें अधिक संगठित नहीं हो पातीं तथा क्षीण हो जाती हैं।

(2) यदि मार्च तथा अप्रैल के महीने में चिली तथा अर्जेन्टीना में वायु दाब अधिक होता है तो भारतीय मानसून अधिक शक्तिशाली होता है क्योंकि इस वायु दाब से दक्षिण पूर्वी स्थायी पवनें अधिक प्रबल हो जाती हैं तथा भूमध्य रेखा को पार करके दक्षिण पश्चिम मानसून की मृद्धि करती हैं।

(3) यदि अप्रैल-मई के महीने में भूमध्यरेखीग क्षेत्रों में अधिक वर्षा होती है तो भारतीय मानसून निर्बल पड़ जाता है। इन क्षेत्रों में अधिक वर्षा का अर्थ है शान्तखण्ड की पेटी में अधिक तेज संवाहनिक धाराओं का उत्पन्न होना तथा इन धाराओं का दक्षिण पश्चिम स्थायी पवनों के उत्तर की ओर जाने में बाधक होना, जिसके फलस्वरूप भारतीय मानसून क्षीण हो जाता है।

(4) जिस वर्ष उत्तर पर्वतीय प्रदेशों में मई के महीने तक हिमपात होता है उस वर्ष वहाँ उच्च वायुदाब की दशायें उत्पन्न होने से प्रति चक्रवातीय पवनें चलने लगती हैं और मानसून क्षीण हो जाता है।

(5) यदि भारत में किसी वर्ष वायुदाब ऊँचा रहता है तो दूसरे वर्ष यह कम रहता है और वर्षा अच्छी रहती है।

उपर्युक्त दशाओं के विपरीत होने पर उनका प्रभाव भी बिल्कुल विपरीत होता है। इस प्रकार सूखे की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

सूखे का प्रभाव

सूखा मानव जीवन को कई प्रकार से प्रभावित करता है। कृषि, फसलों की हानि, चारे की कमी, मृदा उर्वरता का ह्रास, जल-विद्युत् उत्पादन में कमी, स्वच्छ जल उत्पादन में कमी, कृषि आधारित उद्योगों का ह्रास, बेरोजगारी में वृद्धि एवं राजस्व आय में कमी आदि परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त जन-धन तथा पशु-धन पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है।

सूखा मुख्य रूप से फसल-उत्पादन को प्रभावित करती है। कृषक व्यापारिक फसलों की खेती छोड़ देता है। वह उन्हीं फसलों की खेती करता है जिसके लिये सिंचाई की कम आवश्यकता पड़ती है। सन् 1965-66 के सूखाग्रस्त क्षेत्रों के किसानों ने तिलहन, कपास, व गन्ने की खेती कम करके खाद्यान्नों के अन्तर्गत क्षेत्र बढ़ा दिया। सन् 1982-83 में सूखे की वजह से अनाज उत्पादन में 10 मिलियन टन की कमी हुई जो 79 मिलियन टन (1981-82) से घटकर 69 मिलियन टन रह गई। सूखा की अशंका का प्रतिकूल प्रभाव कृषि व्यवसाय में पूँजी विनियोग पर पड़ता है। कृषक की कृषि विकास की प्रेरणा समाप्त हो जाती है। फलतः कृषक अधिक पूँजी का विनियोग करना चाहता ही नहीं। एक सर्वेक्षण के अनुसार वर्ष 1987 के सूखे से कई राज्यों में अभूतपूर्व क्षति हुई है। अकेले उत्तर प्रदेश में, सरकार की 6 सितम्बर 1987 की विज्ञप्ति के अनुसार, लगभग 30 अरब रुपये की फसल नष्ट हुई।

सूखे के कारण भारी मात्रा में जन-धन एवं पशु-धन प्रभावित होता है। प्राण हानि के कारण जनसंख्या में कमी तो होती ही है इसके बढ़ने की गति भी मन्द पड जाती है। भारत में 1875-1900 के मध्य 1.6 करोड़ व्यक्ति मारे गये। यद्यपि कि सन् 1871 से 1881 के दशक में भारत की जनसंख्या में 6.85 प्रतिशत की गति से वृद्धि हुई किन्तु मद्रास तथा मैसूर प्रान्तों में क्रमशः 1.35 प्रतिशत तथा 1.0 प्रतिशत कम हुई। मृत्यु के अतिरिक्त इन क्षेत्रों के लोगों की रोगों के प्रति प्रतिरोध शक्ति अल्पपोषण व कुपोषण से कम हो जाती है, जिससे लोग कम गम्भीर बीमारियों से अपनी रक्षा नहीं कर पाते।

'इण्डिया टुडे' (मई 15, 1983) ने राजस्थान के एक विस्तृत सर्वेक्षण में बाडमेर के एक डॉक्टर को उद्धृत किया। पाकिस्तान से लगने वाली 150 कि० मी० की सीमा के सारे क्षेत्र में ग्रामीण तूवा बीज व लावा घास खाने के कारण आँतों की जलन से बुखार ब्रोंकाइटिस व गेस्ट्रोएन्जेटिस से पीड़ित हैं। पाँच लगातार सूखों से उत्पन्न कुपोषण ने ग्रामीणों में रोग प्रतिरोधक शक्ति को बहुत कम कर दिया है।

ऐसे निर्धनग्रामीण परिवार, जिनके पास एक हेक्टेयर से कम भूमि है, कुल कृषि भूमि का मात्र 7 प्रतिशत है। निम्नस्तर पर जीवन यापन करने वाले ये 47 प्रतिशत परिवार ही भूख व कुपोषण से सबसे अधिक पीड़ित हैं। अनेक भूमिहीन मजदूर तो रोजगार मिलने के दिनों में भी कुपोषण से मुक्ति नहीं पाते, तो सूखे के समय स्थिति का और विकट होना स्वाभाविक ही है।

सूखे से पशुधन की असामयिक मृत्यु तो होती है एवं पशुओं की उन्नतशील नस्लों के समाप्त होने की आशंका बनी रहती है, क्योंकि पशुओं की उन्नतशील नस्लों को भी ऐसे क्षेत्रों का किसान, जहाँ अकाल की आवृत्ति अधिक रहती है, रखना नहीं चाहता। उन्नतशील जाति के पशुओं को रखने पर अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता होती है तथा इस बात की आशंका रहती है कि कहीं अकाल के कारण पशु मर न जाय।

कृषि मंत्रालय के अनुसार कुल 18.4 करोड़ गाय-बैलों में से 3.24 करोड़ सूखा पीड़ित हैं। भैंस-भेड़-बकरियों सहित देश में कुल मवेशियों की संख्या 36.8 करोड़ है। ऐसी दशा में सूखे के समय पशु-धन की क्या हालत होगी जब चारा एवं पीने के पानी दोनों की कमी हो जाय?

अकाल का प्रभाव ग्रामीण श्रम शक्ति के रोजगार के सुअवसरों पर पड़ता है जिससे परेशान होकर बेरोजगार ग्रामीण जनशक्ति शहरों में चली जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि पर आधारित उद्योग भी बन्द होने लगता है जिसके कारण ग्रामीण क्षेत्रों के कारीगरों की स्थिति भी खराब हो जाती है। कृषि श्रमिकों में बेरोजगारी के कारण श्रमिकों की क्रय-शक्ति तो कम होती ही है कृषकों की भी क्रयशक्ति में उत्पादन में ह्रास अथवा उत्पादन न हो सकने के कारण कमी हो जाती है। इधर सूखा देश में किसानों को तबाह कर रहा है तो उधर औद्योगिक उत्पादन भी काफी कम होने की भविष्यवाणी होती रही है। जहाँ 1987 के पहले तीन सालों में औद्योगिक विकास दर 8 प्रतिशत रही वहीं इस वर्ष विकास दर 3.5 से 4 प्रतिशत ही आँकी गई। सूखा सीधे चीनी उद्योग और ट्रैक्टर उद्योग को प्रभावित करेगा।

सूखे के पर्यावरणीय प्रभाव का आकलन तो लगाया ही नहीं जा सकता। पेड़-पौधों का जल के अभाव में सूख जाना, अथवा उनकी वृद्धि रुक जाना स्वाभाविक ही है, जिससे पर्यावरणीय सन्तुलन बिगड़ जाता है। पशुओं, जीव-जन्तुओं की मृत्यु होना अथवा पलायन कर जाने से भी सन्तुलन बिगड़ जाता है।

इसके अतिरिक्त सूखे से कुपोषण, बीमारियों का फैलाव, निर्धनता में वृद्धि नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों की समाप्ति, पारिवारिक अस्तव्यस्तता, कमजोर आर्थिक नीति और गाँवों का उजड़ जाना आदि प्रभाव निश्चित रूप से पड़ते हैं।

सूखा निवारण के उपाय

सूखे से निपटने के लिए देश व विश्वस्तर पर अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन प्रयास किये जाने चाहिए। भारत में कृषि उत्पादन अब भी वर्षा पर आश्रित है। सिंचाई के साधनों में विकास के माध्यम से सूखे की आवृत्ति के प्रभाव को कम किया जा सकता है। कृषि के विकास के निमित्त ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे कार्य किये जाने चाहिये जिससे रोजगार के सुअवसरों में वृद्धि हो सके। कृषि व्यवसाय में श्रमिक प्रधान प्राविधियों पर बल दिया जाना चाहिए। कृषि आधारित छोटे उद्योगों के विकास की दिशा में प्रयत्न आवश्यक है, जिससे उपलब्ध श्रम-शक्ति को अधिक से अधिक रोजगार तो मिले साथ ही आय में वृद्धि हो। कृषि वृत्त की सुविधा में इस प्रकार से विकास करना होगा जिससे साधनहीन एवं निर्धन किसान एवं श्रमिक विशेष रूप से लाभान्वित हो सकें साथ ही यातायात के साधनों का विस्तार, जिससे अकाल पड़ने पर अनाज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके।

अनाजों के मूल्य बढ़ने से रोकने के लिए प्रभावपूर्ण मूल्यनीति अपनायी जानी चाहिये। अनाज का उचित वितरण भी आवश्यक है। उन्नत कृषि पद्धति तथा सूखी खेती के विस्तार द्वारा मोटे अनाज पैदा किये जायें। सूखारोधी जातियों का विकास एवं अनाज का सुरक्षित भण्डार रखना चाहिए। मौसम सम्बन्धी जानकारी के विकास से सूखे के

प्रभावों को कम किया जा सकता है। वनों की अंधाधुन्ध कटाई को रोकना होगा तथा अधिक से अधिक वृक्ष लगाये जायें। इसके अतिरिक्त जलसंरक्षण भी सूखे से निपटने के लिए आवश्यक है।

सूखा अथवा अकाल राहत कार्यक्रम

अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर सूखे एवं अन्य प्राकृतिक आपदाओं से निपटने के लिए विशेष संस्थायें स्थापित की गयी हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'विश्व स्वास्थ्य संगठन', जिसकी स्थापना 1948 में हुई और जिसका मुख्यालय जेनेवा में है, संकट काल में दवाओं, टीकों, चिकित्सकों एवं चिकित्सा-कर्मचारियों की व्यवस्था करता है।

'संयुक्त राष्ट्र आपदा राहत समन्वयक' का कार्यालय, जिसकी स्थापना 1972 में हुई, का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राहत के कार्य में ताल मेल रखना एवं आपदा से होने वाली नुकसान को कम से कम करने के लिए पहले से योजना बनाना है।

इसके अतिरिक्त 'संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम, 'संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष', 'संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी उच्चायुक्त', 'रेडक्रास' और 'रेडक्रास क्रीसेन्ट सोसायटी' आदि संस्थायें संकट काल में सहायता प्रदान करती हैं।

प्राकृतिक आपदाओं से सामना करने के लिए 1983 में पहली अन्तर्राष्ट्रीय कार्यशाला नई दिल्ली में आयोजित की गयी। 1989 में 'संयुक्त राष्ट्र' की एक सभा ने 1990-99 दशक को "अन्तर्राष्ट्रीय प्राकृतिक आपदा घटाओ दशक" (IDNDR) घोषित किया। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के सहयोग के लिए दो सहयोगी केन्द्र—

(1) 'आपदा महामारी विज्ञान अनुसन्धान केन्द्र', ब्रुसेल्स में और

(2) 'शरणार्थी स्वास्थ्य दल' लन्दन में स्थापित हुआ है।

राष्ट्रीय स्तर पर हमारे देश में प्राकृतिक आपदाओं से निपटने की मुख्य जिम्मेदारी कृषि मंत्रालय और स्वास्थ्य परिवार कल्याण मंत्रालय के स्वास्थ्य सेवा महानिदेशालय पर है।

प्राचीन काल में अकाल अथवा सूखा के निवारण हेतु कोई विशेष नीति नहीं अपनायी गयी थी। अकाल के समय राज्य की तरफ से खाद्यान्नों का वितरण होता था। हिन्दू तथा मुस्लिम शासन काल में भी कोई विशेष अकाल अथवा सूखा राहत नीति नहीं अपनाई गयी। ब्रिटिश शासन काल में तो उसकी व्यापारिक नीति के कारण अकाल-पीड़ितों से भी कठोरता एवं दमन के साथ लगान वसूल की जाती थी।

सन् 1776 के अकाल के पश्चात् अकाल निवारण के कार्यों की नई शृंखला प्रारम्भ होती है। 1880 में अकाल आयोग की नियुक्ति की गई जिसने काफी महत्वपूर्ण सुझाव रखे। इस आयोग ने स्वस्थ व्यक्तियों को रोजगार देने, असमर्थ व्यक्तियों को मुफ्त भोजन देने, कृषकों को ऋण प्रदान करने और लगान में छूट देने का सुझाव रखा था। 1898 में पुन: अकाल आयोग की नियुक्ति की गई। सन् 1901 में एक और अकाल आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग ने सरकार से तकावी ऋण के वितरण तथा लगान में छूट प्रदान करने की सिफारिश की तथा गैर सरकारी प्रयासों का भी सुझाव दिया।

बंगाल के सन् 1943 के अकाल के पश्चात् सन् में 1945 में 'अकाल जाँच कमीशन' की नियुक्ति की गई जिसने खाद्यान्नों के उत्पादन बढ़ाने की सिफारिश की।'

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 1952 में अकाल के समय सरकार ने सेना की सहायता से अकाल सहायता कार्य किया। प्रधानमन्त्री के राष्ट्रीय सहायता कोष की स्थापना का उद्देश्य भी ऐसी ही विपदाओं से प्रभावित लोगों की सहायता करना है। अब तो गैर राजकीय स्वयंसेवी संगठनों द्वारा भी इस दिशा में कार्य किये गये हैं।

भारत सरकार की अकाल निवारण नीति का उद्देश्य उन कारणों की तलाश करना व उन्हें समाप्त करना है जिनके कारण अकाल उत्पन्न होते हैं। अकाल निवारण नीति में निम्नलिखित प्रयास सम्मिलित किये गये हैं।

(क) अनाज उत्पादन बढ़ाने सम्बन्धी प्रयास

1. अधिक उपज देने वाली जातियों तथा शीघ्र पकने वाले बीजों का विकास व प्रयोग को बढ़ावा।
2. पौध-संरक्षण कार्यक्रम।
3. सिंचाई सुविधाओं के विस्तार के लिए लघु सिंचाई योजनाओं का विस्तार।
4. सघन कृषि जिला कार्यक्रम, बहुफसल कार्यक्रम, भूमि पुनः सुधार कार्यक्रम, मृदा संरक्षण कार्यक्रम, सूखा सम्भावित क्षेत्र कार्यक्रम आदि का क्रियान्वयन।
5. बीस सूत्रीय कार्यक्रम में वृक्ष लगाने तथा सामाजिक वानिकी कार्यों पर जोर :
6. कृषि सहकारिता, कृषि साख एवं अनुसन्धान का विकास।
7. चकबन्दी कार्यक्रम, जमींदारी प्रथा को समाप्त करना।

(ख) अनाज के उचित भण्डारण सम्बन्धी

1. अनाज का सुरक्षित भण्डार बनाना (बफर स्टाक)।
2. अनाज की सार्वजनिक वितरण-व्यवस्था।
3. अनाज की कीमतें उचित स्तर पर बनाये रखने के लिए कृषि मूल्य आयोग की स्थापना एवं 1965 में भारतीय खाद्य निगम की स्थापना।

(ग) सूखा से रक्षा सम्बन्धी प्रयास

1. सूखा प्रभावित क्षेत्र का कार्यक्रम 1970-71 में 54 जिलों में शुरू किया गया।
2. पशुओं के लिए चारा बैंक की स्थापना 1987 में।

सूखा राहत नीति का मूल्यांकन

स्वतन्त्रता के बाद यद्यपि सूखा व अकाल की काली छाया मँडराती रही है परन्तु भूख से मौत नहीं हुई अथवा हुई भी तो बहुत ही कम संख्या में। अनाज का उत्पादन जो 1955-56 में 69.3 लाख टन था बढ़कर 1990 में 172 लाख टन हो गया। अनाज के विषय में भारत अब आत्मनिर्भर हो गया है। समय-समय पर अनाज का निर्यात भी करता है। कीमतों में स्थिरता लाने हेतु जो प्रयास किये गये हैं उससे कीमतों में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। यातायात के साधनों को विकसित किया जा रहा है। इस प्रकार सरकारी प्रयासों से सूखा या दुर्भिक्ष पर नियन्त्रण पाने में बहुत हद तक सफलता मिली है। किन्तु इतना होने पर भी अनावृष्टि के कारण जब सूखा पड़ जाता है तो कई क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ पीने के पानी की समस्या खड़ी हो जाती है। दोषपूर्ण व्यवस्था के कारण मूल्यों में वृद्धि से अकाल की आशंका पैदा होने लगती है। बेरोजगारी की समस्या भयावह है और इस दिशा में काफी प्रयत्न आवश्यक है। भारतीय ग्रामों को आत्मनिर्भर बनाये बिना अकाल की समस्या का निवारण सम्भव नहीं है। इस स के लिए हामरे अदन्र नैतिक बल एवं कर्तव्य-परायणता आवश्यक है। ● ●

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1991

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1991 से दिसम्बर 1991 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
(8) वर्ष 1991 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1992 है।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के
शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिए नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०; आधा पृष्ठ 100.00 रु०; चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत; 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002